शैव सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

# सिद्धयोग

संस्थापक : योग योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष : 29

जून 1996

अंक : 3

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सवांई, आगरा

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० रामलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

श्री गोविन्द सोनी

राजेश चन्द्र शर्मा

जून १९९६

## इस अंक में पढ़िए


❀ सर्वपापैः प्रमुच्यते .... १

❀ योगियों का कोर्स (विशेष लेख) .... २
—योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

❀ योगमायासमावृतः (सम्पादकीय) .... ७

❀ गुरुदेव से ही प्रकाश, मार्ग और सहारा मिलता है .... ९
—श्री ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल

❀ ब्र० श्री रघुराज को श्री प्रभुजी का दर्शन लाभ .... १३
—श्री राजेश कुमार श्रीवास्तव

❀ कबीर और योग .... १७
—श्री ब्र० दयामोहन वाशिष्ठ

❀ ज्ञान और अज्ञान .... २०
—श्री नारायण दत्त शास्त्री

❀ श्रीमद्भगवद्गीता के 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे पद का महत्व .... २४
—श्री डॉ० जयनारायन

❀ श्रद्धा और विश्वास—एक अनिवार्यता .... २६
—श्री द्वारिकाप्रसाद शर्मा

❀ गुरु-शिष्य एकात्मत्व .... ३५
—सौ० कविता शर्मा

❀ संगति का प्रभाव .... ३८
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास


वार्षिक मूल्य ६० रु० । द्विवार्षिक मूल्य ११० रु० ।
इस अङ्क का मूल्य ६ रु० ।

# सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

| वर्ष २९<br>अङ्क ३ | ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,<br>मर्त्यो मृत्योर्मुच विरक्तो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।<br>तत्प्राप्त्यर्थम् बहुविषदं योगशास्त्रोपदेशान्,<br>कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥ | जून<br>१९९६ |
|---|---|---|


## सर्वपापैः प्रमुच्यते

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

(गीता अ० १० श्लोक २-३)

अर्थात्

मेरे आविर्भाव को न तो देवता जानते हैं, और न महर्षिजन ही जानते है, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ।

जो मुझे अजन्मा अनादि और सम्पूर्ण लोकों का परमेश्वर तत्व से जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

**विशेष लेख :—**

# ★ योगियों का कोर्स ★

❀ योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

---

जिस प्रकार से हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत के बड़े-बड़े विद्यालयों के अन्दर छात्रों के अध्ययन के लिये पहले से ही उनका पाठ्यक्रम सुनिश्चित रहता है, उसी प्रकार योग-साधना में भी उच्चतम स्थिति प्राप्त करने के लिए उनका भी अभ्यास क्रम विधिवत् विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम की तरह से ही निश्चित रहता है। हमने अपने कई लेखों में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि योगियों की कक्षायें मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है और उसके बाद क्या-क्या अभ्यसनीय विषय हैं यह श्री गुरुदेवजी की अनुकम्पा से सामने आता रहता है। 'सिद्धयोग' सिद्धों की एवम् श्री गुरुदेव की अनुकम्पा से ही प्राप्त हुआ करता है। ईश्वर के परम अनुग्रह को प्राप्त कर मनुष्य 'सिद्धयोग' का विद्यार्थी बन जाता है और उसका अधिकारी बन जाने के बाद श्री गुरुदेव के परम अनुग्रह से इस मार्ग में उसकी प्रगति होती चली जाती है। जो लोग सिद्धयोग के विद्यार्थी बन जाते हैं और मन की एकाग्रता के साथ अन्तर भूमिकाओं में उनका प्रवेश हो जाता है ऐसी स्थिति में योग का मुख्य द्वार उनके लिये बिल्कुल खुल जाता है और वे लोग उत्तरोत्तर उन्नति करते रहते हैं। भगवान व्यासदेव ने पतञ्जलि योग सूत्र के भाष्य में लिखा है—

**योगिनो योग एव उपाध्यायः।**

अर्थात् योग में प्रगति हो जाने के बाद योगी का वह योग ही गुरु बना रहता है। और वह अन्तर गुरु बतलाता रहता है "इयमन्तरा भूमिरियमन्तरा भूमिः" उसके बाद यह स्थिति होगी, उसके बाद यह स्थिति होगी। ऐसा साधकों के सामने अपने आप ही दृश्य आते रहते हैं और उन दृश्यों के अनुसार यदि वह अपने गुरुदेव का परम कृपापात्र योगी साधक अन्तरायों से बचकर अपनी साधना को बढ़ाता चला जाता है तो थोड़े समय में ही उसको 'अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि' हो जाती है।

अतः योगियों का अभ्यास क्रम मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होता है। अपने मन में एकाग्रता के अभ्यास को उच्चतर बनाकर संयम तक ले जाने के लिये भगवान पतञ्जलि देव ने अपने अष्टाङ्ग योग वर्णन के अन्दर तीन उच्चतम साधनों का वर्णन किया है। जिनको सिद्ध कर लेने के बाद ही योगी संयम के विषय को भली प्रकार से समझ सकता है और संयम सिद्ध हो जाने पर ही उसका भूमियों में विनियोग किया जा सकता है और वस्तु की यथार्थ स्थिति को जाना जा सकता है। किन्तु उससे पहले श्री पतञ्जलि जी के बतलाये हुए उन तीन प्रमुख साधनों को अभ्यास में ले आना परमावश्यकीय है।

इन तीनों साधनों का नाम धारणा, ध्यान और समाधि है। ये अष्टाङ्ग योग के अन्दर अन्तरङ्ग साधन माने जाते हैं। क्योंकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार अष्टाङ्ग योग के पांच अङ्ग मन की अभ्यान्तर स्थिति हुए बिना भी अभ्यास में लाये जा सकते हैं। किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि को मनुष्य तभी अपने अभ्यास में ला सकता है जब वह अन्तः नम्र हो चुका हो। वह बाह्य व्यापार बन्द करके अन्तरावलोकन का अभ्यासी बन चुका हो। धारणा, ध्यान और समाधि, ये तीनों अङ्ग इस प्रकार से हैं—

## धारणा

भगवान पतञ्जलि देव ने धारणा का लक्षण इस प्रकार से लिखा है—

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**

अर्थात्, किसी लक्ष स्थान में अपने चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। इस सूत्र के भाष्य में भगवान व्यासदेव ने ये पंक्ति लिखी है—

**नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्निज्योतिषि, नासिकाऽग्रे, जिह्वाऽग्र इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।**

अर्थात्, नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्ध्निज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि आदि स्थानों में बाह्य वृत्ति से—केवल वृत्ति से ही चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। जो व्यक्ति मन की एकाग्रता के अन्य साधनों का भी अभ्यास करते हुए भी मन की एकाग्रता के लिए लक्षीभूत स्थल पर हृदयकमल या मूर्धज्योति आदि के अन्दर मन को एकाग्र करके धारणा का अभ्यास करते हैं उनका वह अभ्यास स्वाध्यायपूर्वक अनवरत चलता है तो लगातार छः मास के अभ्यास के बाद ये धारणा ही ध्यान के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ध्यान चित्त की उस स्थिति का नाम है जिससे चित्त की बाह्यिक वृत्ति उपशमन हो जाने के बाद अभ्यन्तर वृत्ति का पूर्णरूपेण अभ्युदय हो जाता है। उसमें से चित्त का बिल्कुल सदृश प्रवाह चलने लगता है। उसीको भगवान् पतञ्जलि देव ने ध्यान कहा है।

## ध्यान

ध्यान का लक्षण करते हुए भगवान् व्यासदेव ने यह सूत्र लिखा है—

**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।**

अर्थात्, ध्येयभूत लक्षस्थल पर चित्त का तैलधारावत् सदृश प्रवाह ही ध्यान कहलाता है। इस सूत्र पर भगवान् व्यास देव ने भाष्य करते हुए यह वार्त्तिक लिखा है—

**तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता:**
**सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्॥**

अर्थात्, उस लक्ष्य स्थान में ध्येयावलम्बन भूत विषय में चित्त का अनवरत सदृश प्रवाह जिसमें कोई दूसरा ज्ञान पैदा ही न हो, चित्त की इस प्रकार की स्थिति को ध्यान कहते हैं। ये इस प्रकार का ध्यान जब साधन का दो या तीन घण्टे अनवरत चलने लग

जाय और इसमें प्रत्यान्तर उठ भी न सके, वृत्ति बिल्कुल एकाग्र रहे तो कुछ समय के बाद वही ध्यान समाधि के रूप में परिवर्तित हो जाया करता है। अनुभव के मन की वृत्ति तदाकारित होकर तद्रूप हो जाया करती है उसी का नाम समाधि हो जाता है।

## समाधि

समाधि का लक्षण पतञ्जलि देव ने निम्नांकित सूत्र में व्यक्त किया है—

**तदेवार्थं मात्रनिर्भास स्वरूप शुन्यमिव समाधिः ।**

इस सूत्र पर व्यास जी ने निम्नांकित पंक्तियों में भाष्य लिखा है, वह इस प्रकार से है—

**ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शुन्यमिव यदा भवति ध्येय स्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ।**

अर्थात्, वह ध्यान ही ध्येयाकार वृत्ति में बदला हुआ प्रत्यान्तरेण अपरामृष्टा होकर जिसमें साधक अपने आपको ध्येयाकार में अवस्थित ही समझने लगे। अर्थात् उसको यह आभास नहीं रहे कि मैं कोई यज्ञदत्त, देवदत्त, चन्द्रदत्त आदि व्यक्ति हूँ। प्रत्युत यह आभास हो कि जिसका मैं ध्यान करता हूँ वह राम, कृष्ण या शिव मैं ही हूँ और इस प्रकार स्थिति के अनवरत बढ़ जाने के बाद साधक के अन्दर अपने इष्टदेव की सिद्धियों का स्वतः प्रकाश होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि अब यह समाधि ही हो गई। समाधि का ही उत्कृष्ट रूप संयम कहलाता है। भगवान् पतञ्जलि देव ने संयम की परिभाषा इस प्रकार लिखी है—

## संयम

**त्रयमेकत्र संयम**

इस सूत्र पर व्यास जी का भाष्य इस प्रकार है—

**एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्य तांत्रिको परिभाषा संयम इति ।**

अर्थात्, धारणा, ध्यान और समाधि तीनों साधन जब एक विषयक हो जाएं, उनके बीच में कोई अन्तराय न आये, तभी संयम सिद्ध हुआ समझना चाहिए और संयम सिद्ध हो जाने के बाद ज्यों-ज्यों अभ्यास के बल से संयम की उत्कृष्ट स्थिति होती चली जायगी तब इस प्रकार के संयमित मन को हम जहाँ भी लगायेंगे वह उस विषय को तत्काल प्रत्यक्ष कर लेगा। ज्यों-ज्यों योगी संयम पर विजय प्राप्त करेगा त्यों-त्यों उसको प्रज्ञालोक होता चला जायेगा। अर्थात् समाधि प्रज्ञा बिल्कुल निर्मल होती चली जायगी। इस प्रकार संयम सिद्ध हो जाने के बाद ही योगी को संयम का उपयोग अन्यान्य भूमियों में करना चाहिए न कि उत्तर भूमियों में। जो साधक निम्न श्रेणियों में बल पा जाता है उसको उत्तर श्रेणियाँ अपने आप ही उत्कृष्ट हो जाया करती हैं। कदाचित् ईश्वर के परम अनुग्रह से या गुरुदेव की परमानुकम्पा से योगी जितेन्द्रिय भूमि हो जाता है। अर्थात् संयम के ऊँचे विषयों में

सफलता पा जाता है तो उसको निम्न श्रेणियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। जिस प्रकार से एक छात्र बाकायदा स्कूल की शिक्षा न पाकर अपनी स्वतन्त्रता से अध्ययन करके बी० ए०, एम० ए०, आदि परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर लेता है तो फिर उसको पहली दूसरी आदि छोटी श्रेणियों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार विजित भूमि योगी को अधः भूमियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। वैसे इस अभ्यास-क्रम में जो योगी अपने मन को संयमित कर लेता है वह ईश्वर के परमानुग्रह से उत्तरोत्तर भूमियों में विजय प्राप्त करता है। भगवान् व्यासदेव जी ने एक श्लोक के रूप में दो पंक्ति इस प्रकार लिखी हैं—

**योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते ।**
**योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥**

अर्थात् योगी का वह योग ही गुरु बन जाता है। क्योंकि योग से ही योग चलता है। जो आलस्य रहित होकर योगाभ्यास करता है वह अवश्य समाधि को प्राप्त हो जाता है। जिस योगी ने अपने मन को संयमित कर लिया है उसको चाहिए कि जिस अभ्यास-क्रम को हमारे पूर्वाचार्यों ने बतलाया है उन विषयों के अन्दर मन को संयमित करके अपने आप को परिपूर्णरूपेण ज्ञान-विज्ञान तृप्तआत्मा बनाले तभी वह व्यक्ति युक्त योगी कहलाने का अधिकारी बन सकेगा।

## युक्त योगी का लक्षण

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

**ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।**
**युक्तः इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म कांचनः ॥**

अर्थात् जिसका आत्मा ज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण है और विकार रहित स्थिति में पहुँच चुका है और इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर लिया है और जिसकी दृष्टि में लोहा, पत्थर और सोना सभी कुछ एक जैसा ही हो अर्थात् किसी में उसकी आसक्ति नहीं रहती ऐसा योगी युक्त योगी कहलाता है। ज्ञान तृप्तात्माका अर्थ है कि प्रकृति के सभी विषयों में संयम करके उनके यथार्थ तत्त्व को जानकर उन पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेना ही ज्ञान तृप्तात्मा के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त जिस योगी ने पूर्णरूपेण आत्मसाक्षात्कार कर लिया और विषय वासना के गर्त से पूर्णरूपेण ऊँचा उठ चुका है, इन्द्रियों पर पूर्णाधिकार है, वही योगी युक्त योगी कहलाता है। युक्त योगी बनने के लिए साधक को चाहिए कि वह शास्त्रोक्त विधि से विभिन्न विषयों में संयम करता हुआ युक्तयोगिता को प्राप्त करे। भगवान् पतञ्जलि देव ने संप्रज्ञात समाधि का लक्षण लिखते हुए इस सूत्र की रचना की है—

**वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ।**

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के भेद से ही संप्रज्ञात समाधि चार प्रकार की है। मनुष्य जिस समय अपने मन को एकाग्र करके स्थूल विषयों का चिन्तन करना शुरू करता है वहीं वितर्कानुगत समाधि का प्रारम्भ है।

## वितर्कानुगत योग

सम्प्रज्ञात योग की पहली श्रेणी वितर्कानुगत समाधि कहलाती है। इसका अर्थ है, योगी जिस समय प्राथमिक अभ्यास शुरू करता है, उस समय वह चित्त को ठहराने के लिए स्थूल विषयों का अवलम्ब लेता है। इस अभ्यास में योगी के सामने प्रायः स्थूल दृश्य ही आया करते हैं। इसको इस प्रकार समझ लेना चाहिए—जैसे किसी साधक ने अपने इष्टदेव भगवान् शिव का अथवा भगवान राम और कृष्ण का ध्यान आरम्भ किया तो इस समाधि में उसके सामने इष्टदेव की मनुष्य आकृति ही आती रहेगी और जिस समय मन इस ध्यान से विचलित होगा तो उस समय उसके सामने मनुष्य लोक के ही दृश्य अधिक आयेंगे। यह वितर्कानुगत योग संप्रज्ञात योग की पहली श्रेणी है। जिस समय योगी अन्तर्मुखी होकरके किसी विषय का चिन्तन करने लगता है तो उस समय उसको उत्तरोत्तर प्रगति कराने के लिए सर्वशक्तिवान परमात्मा की शक्ति उसकी मददगार हुआ करती है। जिस समय वह अपनी पहली श्रेणी को अच्छी प्रकार से परिपक्व बना चुकता है उस समय उसके सामने द्वितीय श्रेणी के दृश्य उस प्रेरक गुरुदेव की प्रेरणा से खुद व खुद आने लगते हैं और परिणाम स्वरूप उसका यह पूर्वाभ्यास स्वतः ही छूट जाता है क्योंकि उसके अभ्यास का विषय उससे भी सूक्ष्म विचारानुगत योग का हो गया है।

(शेष अगले अङ्क में)

★ साधक को सार-असार का, सत्य-असत्य का, शाश्वत-नश्वर का विवेक होना चाहिये। शाश्वत क्या है, नश्वर क्या है? सार क्या है, असार क्या है? सदा क्या रहेगा, और छूट क्या जायेगा? इस प्रकार का जब तक विवेक नहीं होगा तब तक श्रीकृष्ण जैसे, ब्रह्माजी जैसे गुरु भी मिल जायें, ज्ञानेश्वर जैसे, तुकाराम जी जैसे सन्त भी मिल जायें तब भी लोग जीवन को धन्य नहीं कर पाते क्योंकि वे अपना विवेक नहीं जगाते।

× × ×

★ भगवान के लिए अगर भाव नहीं है तो संसार के लिये भाव बढ़ेगा। प्रभु के लिये प्रीति नहीं है तो संसार के साधनों के लिये प्रीति होगी। प्रीति तो तुम्हारी परमात्मा के लिये हो और उपयोग संसार का हो। (ऋषि प्रसाद से)

# योगमायासमावृतः

भारतीय दर्शनशास्त्र एवम् श्रुतियों में जहाँ ईश्वर तत्व का निरूपण किया गया है वहाँ साथ ही साथ 'माया तत्व' का भी विशद विवेचन किया गया है। 'मीयते अनया' इति माया अर्थात् जिससे जगत प्रतीत होता है उसे माया कहते हैं। माया के विषय में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों एवम् विचारकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों के अनुसार भगवान की माया भगवान की अचिन्त्य शक्ति है उस अचिन्त्य शक्ति से बहुत से जीव उत्पन्न हो जाते हैं। परमार्थ वस्तु में उत्पादन सामर्थ्य का नाम ही माया है। भगवान शंकराचार्य मत में माया का स्वरूप इससे भिन्न माना जाता है उनके अनुसार अविनाशी परमात्मा में दूसरी वस्तुओं को दिखाने के लिए कल्पित शक्ति का नाम माया है। परमात्मा की यह सहज स्वाभाविक शक्ति नहीं अपितु अध्यारोपित शक्ति है। यह कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करती केवल उन्हें परमात्मा में दिखाती है। जब अज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी तो माया भी निवृत्त हो जायेगी।

माया और अविद्या यद्यपि समानार्थक से शब्द हैं किन्तु इनके मौलिक स्वरूप में बहुत अन्तर है। माया ईश्वरकृत है अतः यह समष्टिगत है। जबकि अविद्या जीवकृत है अतः व्यष्टिगत है। विवेकख्याति अथवा विद्या से अविद्या नष्ट हो जाती है किन्तु उससे माया की समाप्ति नहीं हो जाती परन्तु विवेकख्याति युक्तपुरुष के लिए माया अब दुःखदायी नहीं रहती। योगदर्शन में भगवान पतञ्जलि देव जी ने इस सिद्धान्त का संकेत स्पष्ट रूप से देते हुए कहा है। 'कृतार्थम् प्रति नष्टमप्यनष्टम तदन्यसाधारणत्वात्' अर्थात् कृतार्थ व्यक्ति के लिये अविद्या नष्ट होते हुए भी अन्य अज्ञानी व्यक्तियों के लिये वह विद्यमान रहती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने माया तत्व का विस्तृत रूप से निरूपण किया है। भगवान ने आत्ममाया, मम माया आदि शब्दों से उसे अपनी माया कहकर पुकारा है। अपने को व्यक्त अथवा प्रकट करने के माध्यम का संकेत करते हुए भगवान कहते हैं कि मैं अजन्मा अविनाशी तथा सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी प्रकृति को आधीन करके अपनी माया से प्रकट होता हूँ। प्रकट हो जाने पर भी मुझे हर व्यक्ति ईश्वर के रूप में नहीं जान सकता क्योंकि भगवान कहते हैं।

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।**

मैं प्रकट हो जाने पर भी सबके लिये प्रकट नहीं रहता हूँ। जो अधिकारी है अथवा जिसे मैं चाहता हूँ उसे ही अपना रूप दिखाता हूँ सभी को नहीं। इस कार्य को

सम्पादित करने के लिये मैं योग माया का सहारा लेता हूँ, इसीसे अपने को ढक लेता हूँ। भगवान के उपर्युक्त वचनों से निष्कर्ष यह निकलता है कि योग माया वस्तुतः भगवान की इच्छा शक्ति का ही नाम है। गीता में भगवान ने प्रकृति के रूप में माया के दो स्वरूप बताये हैं। एक माया का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप है जैसे अव्यक्त या पराप्रकृति के नाम से कहा गया है। कल्पों के अन्त में सभी प्राणी इस मूल प्रकृति में लय हो जाते हैं। सृष्टि के आदि में सभी चराचर प्राणी उसी प्रकृति से उद्भूत होते हैं। यह सर्व कार्य भगवान की अध्यक्षता में सम्पन्न होता है। इसी क्रम से यह संसार चक्र घूम रहा है। इसी मूल प्रकृति को भगवान ने महद्ब्रह्म की संज्ञा दी है। यही मूल प्रकृति सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने का स्थल है। महद्ब्रह्म ही माता है तथा भगवान बीजाधान करने वाले सम्पूर्ण चराचर के पिता हैं। योग माया अथवा मूल प्रकृति से त्रिगुणात्मिका प्रकृति समुद्भूत होती है। महद्ब्रह्म या मूल प्रकृति अव्यक्त तथा अनादि है। जीव के मन बुद्धि को व्यामोह में डाल देने वाली त्रिगुणात्मिका माया को पार करना बहुत ही दुस्तर है। इसी त्रिगुणात्मिका माया से मोहित हुआ जीव अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता। सांख्य-योग में प्रकृति को माया माना गया है।

**मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।**

अर्थात्, प्रकृति का नाम ही माया है तथा मायापति महेश्वर है। सांख्यमत में प्रकृति अव्यक्त तथा पुरुष (आत्मा) पंगुवत् है। इन दोनों के परस्पर सहयोग से सृष्टि चलती है। गीता में भी इस बात का संकेत है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के सहयोग से सृष्टि चक्र चलता है।

वस्तुतः योग माया परमात्मा की योग विभूति व योगैश्वर्य ही है। योग शक्ति से जिस माया का विस्तार होता है वही ईश्वरीय योगमाया है। शक्ति से शक्तिमान अभिन्न होता है। ईश्वर के योग विभूति को जितना जितना कोई जानने लगता है वह उतना ही योग-निष्ठ अथवा परमात्म निष्ठ होता चला जाता है। यह परमात्मा की ही महिमा है जो समस्त सृष्टि का एकमात्र स्वामी होने पर भी अपने को छिपाये रखता है। वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है।

योगी की योगमाया को पार करने के लिये भगवान गीता में योग के माध्यम से भगवद्प्रपन्न होने की बात कहते हैं। योगी योग साधना के माध्यम से त्रिगुणात्मिका माया से सहज ही पार निकल जाता है। समाधि गुणातीत हो जाने की प्रक्रिया है, जहाँ माया का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इससे इतरावस्थाओं में माया दुःखकारी ही है सुखकारी नहीं। अतः निष्कर्ष में यही कहा जा सकता है कि योगमाया से समावृत ईश्वर योग साधना से ही अधिगम्य एवं सम्प्राप्तव्य है।

# गुरुदेव से ही प्रकाश, मार्ग और सहारा मिलता है

❀ श्री ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल (लखनऊ)

मोह-अज्ञान के अन्धकार में ठोकर खाते हुए मनुष्य को किसी ने आकर उसका हाथ पकड़ कर दीपक के प्रकाश में रास्ता दिखाता हुआ ले चला। और फिर यदि कभी वह गिरने भी लगा तो उसको सहारा देकर उसे संभाल लिया। ठीक इसी प्रकार गुरुदेव के मिलने पर मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश मिलता है, मार्ग मिलता है और सहारा मिलता है।

जिस प्रकार एक पहलवान का शिष्य जब किसी से कुश्ती लड़ता है तो उसका पहलवान गुरु अन्तर ही अन्तर में उसको बल भेजता है उसे जिताने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है। यह पहलवान गुरु का भेजा हुआ बल अवश्य ही शिष्य को मिलता है। जिसके गुरु हैं, वही तो उनसे इस शक्ति को पा सकेंगे। लेकिन जिनके कोई गुरु नहीं है, वह इस शक्ति से, सहारे से, वंचित रहेंगे और ऐसे लोग जगत में हार खाकर दुःखी ही रहते हैं। जिस स्त्री का कोई पति नहीं वह भला किसका सहारा लेगी? वह किससे अपना दुःख-दर्द कहेगी और कौन उसको सांत्वना देगा? उस पतिहीन स्त्री का तो समस्त जीवन दुःख में ही बीतेगा। जैसे पति-पत्नी का जोड़ा है, उसी प्रकार गुरु और शिष्य का जोड़ा है।

सच्चा गुरु भक्त हमेशा, या तो गुरु के साथ रहता है, या गुरु को अपने साथ रखता है। वह कभी भी गुरु से अलग अकेला नहीं रहता। संसार की माया और यह माया रूपी मन इतना ईश्वर से नहीं डरता जितना गुरुदेव से डरता है और मनुष्य का अहंकार भी गुरु से ही भयभीत रहता है, अहंकार की अकड़ गुरु के सामने नहीं चलती, वहां वह भी नरम हो जाता है, झुक जाता है। अतः जो शिष्य अपने गुरु की छत्रछाया से जहां अलग हुआ कि माया का, मन का आक्रमण उसके ऊपर तत्क्षण हो जाता है। गुरु के साथ या गुरु को साथ में रखने का अर्थ है सतत् अपने गुरु मन्त्र का जप करते रहना। तब मायावी मन का वश उसके ऊपर नहीं चलता। गुरुदेव अथवा गुरु रूप गुरु का मन्त्र शिष्यों को हर आपत्ति-विपत्ति से बचा लेते हैं। असल में गुरु करने का, गुरु पूजा व गुरु-मन्त्र जप करने का सबसे अधिक लाभ तो यही है कि एक सर्व समर्थ गुरुदेव की छत्र-छाया में रहने से गुरुदेव उसकी रक्षा करेंगे। जब भी मन में गलत भावना या गलत काम करने का विचार मन में आवेगा उसमें विफलता हो जायेगी। थोड़ी भी चोरी करेगा तो तत्काल पकड़ा जायेगा, तत्काल उसको दण्ड मिलेगा, जिससे वह आगे गलती न कर सके। लोग यही तो कहते हैं कि जो लाखों की चोरी करते हैं, हत्या तक करते हैं वे सुखी रहते हैं, और एक गुरु भक्त, ईश्वर भक्त, कुछ भी गलत करता है, उसे सफलता नहीं मिलती और तत्काल पकड़ा जाता है। सज्जन, गुरु-भक्त, ईश्वर भक्त दुखी रहते हैं, दुष्ट, असज्जन सुखी दीखते हैं। इस प्रकार से दुनियादारी वाले लोग बाहर-बाहर ही देखते

है। अन्तर की वे लोग क्या जानें। उनका दुःखी होना, धनहीन होना, उनके हित में है। वहाँ भी गुरु और ईश्वर की कृपा, शक्ति काम कर रही है कि उन्हें गलत नहीं होने दिया। इस प्रकार गुरु की शक्ति गुरुदेव के सदुपदेश ही तो संस्कार रूप में तुम्हारे हृदय में अङ्कित हो जाते हैं, वही बुरा करने से तुम्हें रोकते हैं, वही तुम्हारी देखभाल करती है जिसने अपने जीवन को यथार्थ रूप से गुरुदेव को, ईश्वर को सौंप दिया तो सब जिम्मेवारी तुम्हारी नहीं रही, अब जिम्मेवारी जिनको जीवन सौंपा है उनकी हो गई। सिद्ध समर्थ गुरु श्रद्धालु शिष्यों के मनों में दूर बैठकर सत कर्म करने की, असत कर्म न करने की प्रेरणा भेजते रहते हैं।

गुरु शिष्य का एक तो बाह्य सम्बन्ध होता है शारीरिक सम्बन्ध और दूसरा आन्तरिक, मन का सम्बन्ध होता है। आन्तरिक मन का सम्बन्ध होता है। आन्तरिक मनों के सम्बन्ध होने पर दोनों के मन एक होते हैं, गुरु के मन की बात शिष्य के मन में तथा शिष्य के मन की बात गुरु के मन में आ जाती है और फिर तीसरा अटूट, गहरा सम्बन्ध होता है, गुरु का आत्मीय सम्बन्ध। गुरु के अन्दर जितनी आत्मा से निकटता, एकाग्रता होगी, शिष्य भी उतना ही गुरु में घनिष्टता करता जायेगा। यदि गुरु का आत्मा से ऐक्य नहीं है तो शिष्य भी कदापि अन्दर से एक नहीं हो सकता। जो गुरु शिष्य को तो अपने में लय करना चाहते हैं परन्तु आत्मा से अलग रहते हैं, आत्मा से जिनका एकत्व नहीं हुआ ऐसे गुरुओं के शिष्य बराबर धोखा ही देंगे।

मनुष्यों को अपना एक गुरु बनाने का प्रयोजन यह है कि जैसे दीपक में तेल, बत्ती सब ठीक सुव्यवस्थित होते हुए भी उसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रज्वलित दीपक अथवा दियासलाई की आवश्यकता होती है। जो अग्नि प्रकाशित दीपक में है, वही अप्रकाशित में भी विद्यमान है किन्तु क्या बाहरी सहायता के बिना वह प्रकट हो सकती है? प्रकाशित करने वाले और प्रकाशित होने वाले दोनों दीपकों में एक ही अग्नि है, किन्तु उसका प्राकट्य होने पर ही उसकी अभेदता समझ में आती है। वह ईश्वर सर्वत्र बाहर और जीवों के भीतर विद्यमान है। साधक के भीतर भी है किन्तु उसे प्रकट करने के लिए एक ऐसी गुरु-शक्ति की कृपा की आवश्यकता है जिसके अन्दर वह ईश्वरत्व प्रकट हो चुका हो। यही गुरु की आवश्यकता है। यह जीव अनादिकाल से अविद्या युक्त है इसलिए इन्हें स्वयं आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता। इन्हें ज्ञान देने के लिए किसी अन्य-तत्त्व ज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी गुरु की आवश्यकता है। जन्म-जन्मान्तर से तम और रजोगुण के मलिन संस्कार एकत्रित होते चले आने से यह जीव माया के गहरे अन्धकार में डूबा हुआ है जिसके कारण उसका ज्ञान विपरीत रूप धारण कर चुका है अगर किसी समय वास्तविक ज्ञान की झलक उपलब्ध होती भी है तो भी संशयात्मक होने के कारण बुद्धि भ्रम में ही पड़ी रहती है। इसीलिए महापुरुषों ने यह स्पष्ट आदेश दिया है कि यदि किसी देवतादि से दीक्षा प्राप्त हो भी जाय तथा साधक की शक्ति अन्तर्मुखी कार्य करने भी लगे, तो भी मनुष्य शरीर में प्रगट गुरु की कृपा अवश्य प्राप्त करनी चाहिए क्योंकि उसके बिना संशय बने रहते हैं और साधन, भजन, तप आदि पूर्णतया फल नहीं दे पाते। कुलार्णव तन्त्र में कहा है—

**अदीक्षिताः ये कुर्वन्ति**
**जप पूजादिकाः क्रिया।**
**न फलन्ति प्रिये तेषां**
**शिलायां सुप्त बीजवत ॥**

दीक्षा रहित लोग जो कुछ भी जप, पूजादि क्रिया करते हैं उनको पत्थर पर बोये हुए बीज की तरह उसका कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार दीपक को मांजते रहें, इसमें तेल भी भरते रहें तथा उसमें बत्ती को ठीक-ठाक रखने का प्रयत्न भी करते रहें किन्तु जब तक प्रकाशित दीपक के साथ उसका सहयोग नहीं होता, तब तक उस दीपक से प्रकाश की आशा रखना व्यर्थ है। प्रज्वलित दीपक के साथ उसका संयोग होने पर ही हमारा सारा परिश्रम सफल होता है। गुरु दीक्षा से शिष्य का हृदय-दीप जलकर प्रकाशित हो जाता है। जगत और जीवन में सद्गुरु के बिना अन्धकार ही अन्धकार है, सब दुःख ही दुःख है, अशान्ति ही अशान्ति है।

ईश्वर की माया बड़ी ही दुस्तर है, गीता में कहा है—

**दैवी ह्येषा गुणमयी**
**मम माया दुरत्यया।**
**मामेव ये प्रपद्यन्ते**
**मायामेतां तरन्ति ते ॥**

(गीता अ० ७ श्लोक १४)

के अनुसार ईश्वरीय शक्ति के सहारे के बिना, ईश्वर शरणागत हुए बिना, ईश्वर की सहायता, सहयोग के बिना इस तरण में समर्थ ही नहीं हुआ जा सकता। जहाँ एक ओर ईश्वर की माया जीवों को जगतरूपी चक्कर में भरमाती रहती है, वहीं स्वयं ईश्वर अपने शुद्ध स्वरूप में प्रत्येक जीवों में बैठा हुआ गुरु-कार्य भी कर रहा है।

अर्थात्, माया से बचने के लिए ईश्वरीय प्रकाश भी जीव के अन्दर ही आलोकित है। जहाँ एक ओर ईश्वर की माया जीवों को भरमाती है वहाँ वह ईश्वर योगी, सन्त-महात्माओं के अन्दर गुरु रूप में प्रगट होकर जीवों को माया से छुड़ाकर ईश्वर के सम्मुख करता है। अनादिकाल से माया के साथ-साथ ही यह गुरु-कार्य भी चलता आ रहा है। ऐसा कोई समय नहीं जब यह ज्ञान प्रकाशित न रहा हो।

'गु' शब्द का अर्थ अज्ञानान्धकार है और 'रु' शब्द का अर्थ है ज्ञानालोक। इस प्रकार गुरु का अर्थ हुआ जो ज्ञान-दान करके अज्ञान का नाश करे। यह सकल विश्व माया से उत्पन्न हुआ है, इस भाव का प्रतिपादन 'गु' शब्द से समझा जा सकता है। 'रु' कार पर-ब्रह्म तत्व है। उस परब्रह्म के प्राप्त होने पर ही माया के बन्धन से छुटकारा सम्भव है। अतः गुरु के वास्तविक स्वरूप की साधना श्रेयस्कर है। गुरु धन जैसा धन संसार में कहीं अन्यत्र प्राप्त होने वाला नहीं है क्योंकि यह ईश्वर का स्वरूप है। ईश्वर स्वरूप दयालु गुरु के बिना जीव का तीनों लोकों में अपना कोई नहीं है। संसार के सभी सम्बन्ध स्वार्थ अथवा मोह पर आधारित हैं। किन्तु गुरु-शिष्य सम्बन्ध केवल शिष्य के कल्याण के लिए ही है। यदि विवेक पूर्वक विचार करके

देखा जाय तो गुरु ईश्वर से भी बड़े हैं। जो भगवान की सीधी भक्ति करते हैं उनका पथ कठिन एवम् लम्बा है। किन्तु जिनको गुरु-रूपी भगवान की कृपा प्राप्त होती है उनका आन्तरिक गुरु गुरुदेव की कृपा प्राप्त होते ही जाग उठता है। शिष्य का तन तो दो अति विषैली (अहङ्कार और मन) बेलों के द्वारा समूचा शरीर व जीवन विषाक्त हो जाता है, विषय विकारों का विष इन्हीं के कारण भरा हुआ रहता है जिनके कारण ही मनुष्य मूर्च्छित होकर विषय भोगों में रत होकर जन्म-मरण रूपी बेल में उलझा रहता है। किन्तु गुरु के शरीर में उनके गुरु द्वारा इन दोनों विषाक्त बेलों को नष्ट कर दिया जाता है और आत्म-तत्व का आत्मा का अमृत प्रगट हो जाता है। इसी कारण से गुरु में अमृत तत्व की खान खुल जाती है। गुरु के आत्म-तत्व के ज्ञान प्रकाश से विषय विकार रूपी बेल जलकर भस्म हो जाती है। अतः गुरु प्राप्ति किसी भी कीमत पर हो कोई महँगी नहीं है। यदि सच पूछा जाय तो गुरु प्राप्ति के लिए अपने सिर के अहङ्कार को तो काटना ही पड़ता है, अहङ्कार को समाप्त करना होता है, मन को मारना ही पड़ता है। कबीरदास जी ने कहा भी है—

**यह तन विष की बेलरी,**
**गुरु अमृत की खान।**
**सीस दिये जो गुरु मिले,**
**तो भी सस्ता जान॥**

वे मनुष्य सौभाग्यशाली हैं जिन्होंने अपने अहङ्कार रूपी शीश को काटकर गुरु को पा लिया है। अपने गुरुदेव से प्रीति लगाकर सत्य स्वरूप परमात्मा को पा लिया है उन्होंने ही अपने साथ अपने कुल का भी उद्धार कर लिया है।

संसारी जीव जब गुरु को न अपनाकर गुरु और शास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन करने पर ही काल और माया के मायावी जाल में फँसता है तभी माया जीव पर अपना अधिकार प्राप्त कर लेती है। यदि शिष्य गुरु और शास्त्र की आज्ञा रेखा के अन्दर-भीतर रहे तो माया और काल का दाँव उस पर नहीं चल पाता। कबीरदास ने कहा भी है—

**सद्‌गुरु सबद उल्लंघि के,**
**जो सेवक कहिं जाय।**
**जहाँ जाय तहाँ काल है,**
**कहैं कबीर समुझाय॥**

जिस प्रकार सीता जी लक्ष्मण रेखा को पार करते ही माया रूपी अहङ्कारी रावण की पकड़ में आ गयीं ठीक उसी प्रकार जीव के लिए अहङ्कार रूपी रावण तथा मन की माया के बन्धन से मुक्त होने के लिए गुरु और शास्त्र की आज्ञा पालन करना आवश्यक है। गुरु आज्ञा पालन करने से ही गुरु भक्ति और गुरु की शक्ति मिलती है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में गिरिमालाओं की तरह एक न एक दुःखद समस्या खड़ी ही दीखती है। इस प्रकार मनुष्य समस्या से सदा घिरा रहता है। अपने उद्धार के लिए कुछ कर नहीं पाता, लेकिन गुरु आश्रय से वह इन समस्याओं से सुखपूर्वक गुजरकर परमात्मा की परम सम्पदा की ओर बढ़ता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि जीवन में किसी ऐसे अद्वैत की शरण ग्रहण अवश्य कर ले। जितना शीघ्र हो उतनी किसी सद्‌गुरु की शरणागति ग्रहण कर लेनी चाहिए। जहाँ

(शेष पृष्ठ १३ पर)

## श्री सद्गुरुदेव की कृपा

# ब्र० श्री रघुराज को श्री प्रभुजी का दर्शन लाभ

ले० श्री राजेश कुमार श्रीवास्तव (एत्मादपुर)

**ल**गभग ३० वर्ष पूर्व की घटना है। ब्र० श्री रघुराज भइया मूल रूप से सवाई ग्राम के निवासी हैं। अधिकांश गुरु भाई-बहिन इनसे परिचित हैं। जब से इन्हें गुरुदेव की आज्ञा हुई, तभी से बराबर सायंकालीन आरती से पूर्व ही श्री सिद्धगुफा के सामने बैठकर हारमोनियम के साथ अपने मधुर कण्ठ से श्री प्रभुजी के श्रीचरणों का गुणगान करते चले आ रहे हैं। सौभाग्य से रघुराज भइया के माता-पिता श्री प्रभुजी से दीक्षा प्राप्त थे। श्रेष्ठ सुसंस्कारित माता-पिता की देख-रेख में पले ब्र० रघुराज भइया की बचपन से ही धार्मिक वृत्ति होना स्वाभाविक ही था। उन्हें आश्रम से अपार प्रेम था, कारण उन्होंने इस आश्रम से जुड़े श्री प्रभुजी के अनेकों आश्चर्य-जनक चरित्रों को सुन रखा था। रघुराज भइया की माताजी उन्हें बचपन में, श्री प्रभु जी की पावन घटनायें सुनाया करती थीं। फलस्वरूप उनके हृदय में बाल्यावस्था में ही श्री प्रभुजी के प्रति दृढ़ निष्ठा स्थापित हो गई थी। दिन-प्रतिदिन आध्यात्मिक मनो-वृत्ति सघन होती जा रही थी। आध्यात्म जगत में विपुल उपलब्धियाँ प्राप्त करने में प्रबल उत्सुक श्री रघुराज भइया की जिज्ञासा योग के अद्भुत रहस्यों को समझने में, अलौ-किक दिव्य दर्शनों में तथा योगाधिपति श्री प्रभुजी के दर्शनों में दृढ़ होने लगी। लेकिन रघुराज भइया की निष्ठा सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के प्रति न के बराबर थी। उनकी बुद्धि श्री महाराज जी के योग-बल के प्रति सदैव भ्रमित बनी रहती। योग-योगेश्वर परम प्रभु श्री रामलालजी महाराज के श्री सिद्धगुफा सवाई से पृथक होने के कई वर्षों के उपरान्त श्री महाराज जी, श्री प्रभु जी की आज्ञा से श्री सिद्धगुफा को भव्यता एवं विराटता प्रदान करने हेतु तथा अगणित लोगों को योगमार्ग की अनुपम राह दिखाकर उन्हें उनके परम लक्ष्य तक पहुँचाने हेतु श्री सिद्धगुफा आश्रम के पावन भूखण्ड पर अव-तरित हुए। गुरुदेव तो जैसे योग-योगेश्वर अखिलात्मा त्रिजगत पावन भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र के ही प्रतिरूप थे।

श्री गुरुदेव जी ने स्वयं अपनी विराटता तथा समस्त भौतिक संसार के मध्य एक ऐसी भ्रम की दीवार स्थापित करदी थी कि जिसे

---

(पृष्ठ १२ का शेष)

तुम जी-भरके रोकर अपनी व्यथा सुना सको। ऐसे किसी परम पावन चरणों का सहारा अवश्य प्राप्त करलो, जो तुम्हारे दुःखी हृदय को सान्त्वना दिला सके, जो तुम्हें उचित मार्ग दर्शन कर सके, जो तुम्हें साहस और ढाढ़स दिला सके कि तुम चिन्ता, फिकर न करो हम तुम्हारे साथ हैं। इस संसार में गुरुदेव जैसा किसी जीव का सच्चा हितकारी कोई भी नहीं है।

★

भेदकर पञ्च तन्मात्राओं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के स्थूल रूप क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश का ही दर्शन करने वाली इन्द्रियों के वशीभूत साधारण मनुष्य गुरुदेव के वास्तविक स्वरूप तक कदापि नहीं पहुंच सकता था।

रघुराज भइया ने गुरुदेव के तत्कालीन व्यक्तित्व तथा उनके क्रियाकलापों के आधार पर, अपनी समझ के अनुसार स्वयं ही श्री गुरुदेव जी का मूल्यांकन कर लिया था। रघुराज भइया को भी प्रभुजी में तो पूर्ण श्रद्धा थी लेकिन श्री महाराज जी के प्रति उनकी मानसिकता सदैव संकीर्ण ही रहती थी। गुरुदेव जी के प्रति भ्रमित करने वाली पहली धारणा यह थी कि उच्चकोटि के सिद्धि सम्पन्न महात्मा कभी इस प्रकार की धोती, कुर्ता वाली सांसारिक वेशभूषा में नहीं रहते। उनकी दूसरी धारणा यह थी कि गुरुदेव एक व्यापारी सेठ के सदृश दृष्टिगोचर होते थे, जो कि महात्माओं अथवा योगियों का लक्षण नहीं है। प्रभुजी के जैसी लम्बी जटाओं को गुरुदेव ने धारण नहीं किया था। उनकी धारणा यह थी कि उन्होंने नाथ सम्प्रदायों से सम्बन्धित किसी पुस्तक में पढ़ लिया था कि—

"मोटे-मोटे फूले मोटे-मोटे पेट,
नहीं रे पूता गुरु सों भेंट।
खड़खड़ काया निर्मल नेत्र,
भई रे पूता गुरु सों भेंट॥"

अर्थात्, जिसका शरीर अति भारी हो वह गुरु बनाने योग्य नहीं होता। जिस महात्मा का शरीर कठोर तपश्चर्याओं से तपाया हुआ हड्डियों के ढांचे के सदृश हो तथा नेत्र निर्मल हों वह गुरु कहलाने का अधिकारी होता है। गुरुदेवजी की यथार्थता को भलीभाँति समझने में बाधक रघुराज भइया की चौथी तथा अन्तिम धारणा यह थी कि महाराज जी उन दिनों आश्रम में निवास नहीं करते थे। पन्द्रह दिन अथवा महीने भर के लिए आश्रम में आते थे, फिर चार महीने, छः महीने, कभी-कभी एक वर्ष के लिए बाहर चले जाते थे। रघुराज भइया सोचा करते थे कि ये कैसे सन्त हैं। हमने कभी इन्हें ध्यान, समाधि, प्राणायाम, आदि यौगिक क्रियाएँ करते देखा नहीं, बस हमेशा भ्रमण ही करते देखा है। जब महाराज जी स्वयं कुछ नहीं करते तो अन्य लोगों को कैसे यौगिक क्रियाएँ कराकर उन्हें उनके अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचाते होंगे? उपरोक्त विसंगतियों के बावजूद रघुराज भइया नित्य आश्रम पहुंचकर महाराज जी को प्रणाम करते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते हुए महाराज जी की सेवा में ही सदैव तत्पर रहते थे।

रघुराज भइया, महाराज जी के मायाजाल के पूर्णरूप से शिकार बने हुए थे। उनके पिताश्री नन्हन सिंह तथा माता श्रीमती राम देवी दोनों ही प्रभुजी के परम भक्त थे। रघुराज भइया जैसे-जैसे आध्यात्मिक पारिवारिक वातावरण में बड़े होते गये, महान गुरु विषयक विचार उनके हृदय में उद्भव होते जा रहे थे। परमपिता परमात्मा श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के सानिध्य में रहकर भी उन्हें बस एक ही धुन सवार रहती थी कि कोई समर्थ गुरु मिल जायें तो मैं धन्य हो जाऊँ।

श्री गुरुदेवजी ने बहुत ही साधारण वेशभूषा अपनाई थी। उन्होंने सदैव कुर्ता और धोती का साधारण परिधान ही पसन्द

किया और सिर पर अन्य ऋषि-मुनियों, योगियों की भाँति जटा-जूट को धारण नहीं किया। सामान्य लोगों की सामान्य दृष्टि से स्वयं की विराटता को अदृश्य रखने को इतना ही काफी था। लेकिन जिस दिन सूर्य घनीभूत बादलों में स्वयं को छुपाकर रख पाता, आखिरकार कुछ अन्तर्मुखी ज्ञानी महापुरुषों ने श्री गुरुदेव जी की प्रखर दिव्य किरणों का अनुभव कर ही लिया था। उन्हीं अन्तर्मुखी महापुरुषों में से एक थे महात्मा श्री हरिनारायण जी महाराज। ये महात्मा जी उन दिनों आश्रम में रहते हुए थे। उनका स्वभाव अति शान्त, सरल तथा मधुर था। वे दतिया के पहाड़ों में जगत जननी माँ दुर्गाजी के साक्षात दर्शन पाने के लिए १२ वर्ष से कठोर तप कर रहे थे। हमारे प्रिय गुरुदेव योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज कुछ दिन के लिए योग प्रचार हेतु दतिया गए हुए थे। जब उनकी करुणामयी दृष्टि महात्माजी पर पड़ी तो गुरुदेव जी उनकी लगन देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। गुरुदेव महात्माजी से बोले तुम्हें यहाँ से कुछ नहीं मिलेगा, मेरे साथ चलो मैं तुम्हें माँ भगवती दुर्गा के दर्शन ही नहीं, बल्कि मेरा मार्ग द्वारा अलौकिक योग शक्ति सामर्थ्य को अर्जित करने की सरल विधियाँ बतला दूँगा।

गुरुदेव के प्रेमयुक्त भावों को समझकर महात्मा जी तुरन्त सवाई आश्रम चलने के लिए तैयार हो गये। आश्रम में उन्होंने गुरुदेव की आज्ञानुसार, श्रद्धायुक्त होकर पूरे मनोयोग से गुरुजी के निर्देशों को ध्यानपूर्वक सुनकर, उनका अनुकरण किया। ये महात्मा जी बिना हिले-डुले आठ दिन तक समाधि में अवस्थित रहते थे। रघुराज भइया के लिए यह बड़े आश्चर्य की बात थी। उन्होंने कई रात्रियों में जागकर गुप्त रूप से महात्मा जी का निरीक्षण किया और अपना सन्देह दूर किया। धीरे-धीरे रघुराज भइया तथा महात्मा जी में घनिष्ठता स्थापित हो गयी। वे महात्मा जी की पूरे मनोयोग से सेवा करते थे। अपने घर की गायों का शुद्ध घी तथा दूध बड़ी श्रद्धा से महात्मा जी की सेवा में समर्पित करते, जिन्हें महात्मा जी विशेष आग्रह पर ही स्वीकार करते थे।

जिज्ञासावश एक दिन रघुराज भइया ने महात्माजी से पूछ ही लिया कि भारतके समस्त तीर्थ-स्थलों, सिद्धपीठों को छोड़कर, साधना करने के लिए इस आश्रम की भूमि ही आपको उपयुक्त क्यों लगी? आप अपनी साधना के विषय में कुछ बतलाने की कृपा करें महाराज कि यहाँ आकर आपको कुछ अलौकिक लाभ हुआ भी अथवा नहीं? महात्मा जी ने उत्तर दिया कि मैं श्री महाराजजी की आज्ञानुसार यहाँ साधना करने के लिए प्रेरित हुआ। मैं ब्रह्माण्ड की संयुक्त शक्ति भगवती दुर्गा जी की साधना करता हूँ। यहाँ आकर मेरा मनोरथ त्वरित सिद्ध हो गया है। जिन सिद्धियों को मैं जीवन-पर्यन्त साधनारत रहकर भी प्राप्त नहीं कर सकता था, उन्हें मैंने यहाँ से श्री गुरुदेव की विशेष अनुकम्पा में रहकर, दो महीने की अल्प समयावधि में सहज ही प्राप्त कर लिया है। मेरा उद्देश्य पूरा हो गया है, अतः कल मैं श्री गुरुदेव जी से आज्ञा लेकर, यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ। रघुराज भइया ने हाथ जोड़कर प्रश्न किया, "महाराज, क्या आप हमें भी जगत-जननी माँ के दर्शन करा सकते हैं? यदि आप दर्शन करा दें तो हमें आपकी बात पर विश्वास हो जायेगा, नहीं तो हम आपकी समस्त बातों को मिथ्या ही समझते रहेंगे।" महात्मा जी

ने उन्हें दर्शन कराने का अति प्रसन्नता से वायदा कर दिया। रघुराज भइया को अब चैन कहाँ पड़ने वाला था, कहने लगे यदि दर्शन कराने ही हैं तो अभी आज ही कराइये फिर कल तो आप चले ही जायेंगे। महात्माजी ने एक मन्त्र देकर रघुराज भइया को निर्दे-शित किया, "इस मन्त्र का आप आज रात्रि में १२ बजे तक करना, ठीक बारह बजे तुम्हें माँ दुर्गाजी के दर्शन हो जायेंगे।" रघुराज भइया तत्काल अपने घर पहुँचे, घर की धुलाई, सफाई आदि करने के बाद साधनोपयुक्त स्थान का चयन किया और महात्मा जी के द्वारा बतलाये हुए विधि-विधान के अनुसार अपना आसन ग्रहण कर लिया। उन्होंने अपने आगे १०-१२ तेल के दीपक लगाकर, मन्त्रोच्चारण के साथ साधना आरम्भ करदी। रात्रि के पौने बारह का समय हो गया, रघुराज भइया को महात्मा जी की बात पर सन्देह होने लगा, और सोचने लगे कि अभी तक तो कुछ भी लक्षण दिखाई नहीं दे रहे हैं, कहीं महात्माजी ने मुझे मूर्ख तो नहीं बना दिया। वे अपने हृदय में उठने वाली इन विकारयुक्त अशोभनीय धारणाओं पर नियन्त्रण करते हुए अपने मन्त्र का जाप कर ही रहे थे कि ठीक १२ बजे जगत जननी ममतामयी माँ भगवती दुर्गा महाशक्ति अपने विराट रूप में, अनुपम मनोहर रूप सौन्दर्य लिए, देदीप्यमान मुखमण्डल पर मधुर मुस्कान बिखेरती हुई, श्री० रघुराज भइया के सम्मुख साक्षात् प्रकट होकर आशीर्वाद की वर्षा करने लगी।

माँ के दर्शन पाकर अति आनन्दित और आश्चर्यचकित रघुराज भइया, माँ को प्रणाम करने के लिए झुकने ही वाले थे, कि माँ उनका मनोरथ पूरा करके तुरन्त अन्तर्धान हो गयी। रघुराज भइया दूसरे दिन प्रातः आश्रम में पहुँचे। महात्माजी ने उनको देखते ही पूछा, "कहो रघुराज, तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो गई क्या ?" रघुराज भइया ने सहर्ष उत्तर दिया, "हाँ महाराज जी, आपकी कृपा से मुझे दर्शन हो गए हैं।" आपके पास तो अद्भुत शक्ति है, मेरा आपसे एक निवेदन है कि आप मुझे गुरुदीक्षा प्रदान करने की कृपा करें। बहुत दिनों से मैं समर्थ गुरु की तलाश में था। मैं समझता हूँ कि अब आपसे भी अधिक श्रेष्ठ गुरु कौन होगा ? आप अब मिल ही गये हैं तो सोचा कि लगे हाथ गुरुदीक्षा भी ग्रहण कर लूँ। चूँकि अबके गये फिर पता नहीं इस आश्रम में कब दर्शन होंगे। रघुराज भइया की जिज्ञासा सुनकर, महात्माजी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

वे बोले, "अरे रघुराज, ये तुम क्या कह रहे हो ? गुरुदेव के अति समीप होते हुए भी, उनसे बहुत दूर रह रहे हो तुम। शायद तुमने कभी ध्यान से गुरुदेव को देखने की कोशिश नहीं की है। जैसा तुम समझते हो, गुरुदेव वैसे नहीं हैं। अपने सद्गुरुदेव जी श्री चन्द्रमोहन जी महाराज कोई साधारण सन्त नहीं हैं। मैं तो स्वयं गुरुदेव जी का एक कृपापात्र हूँ। गुरुदेव तो योग शक्तियों के अथाह समुद्र हैं, जिसमें से कुछ छींटे मुझ दीन पर फेंक कर, उन्होंने मेरा जीवन सफल बना दिया है। गुरुदेव की तो कृपा दृष्टि मात्र से ही सब कुछ सम्भव है, कुछ जीवन में चाहते हो तो उनके चरण कमलों को कस के पकड़ लो। बड़े दयालु हैं वे, उनकी दयालुता का कैसे उल्लेख करूँ। तुम्हें सन्देह रहित होकर, गुरुदेव के प्रति अपने हृदय को सदैव श्रद्धावनत और कृतज्ञ रखना चाहिए। गुरुदेव सर्वप्रथम

(शेष पृष्ठ २६ पर)

# कबीर और योग

ले० श्री ब्र० बृजमोहन वाशिष्ठ

सन्त शिरोमणि कबीर दास जी यद्यपि पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु जैसा उनके जीवन से परिचय मिलता है उसके अनुसार यह मानना पड़ेगा कि वह एक उच्चकोटि के अनुभवी सन्त थे जिन्हें आज का पढ़ा-लिखा समाज अभी तक समझने की चेष्टा करते हुए भी नहीं समझ पाया है। उनकी रचित साखियों व अन्य प्रकार की रचनाओं में यह स्पष्ट रूप से दिखायी देता है कि वे कितनी गहराई में बैठ चुके थे। उनका प्रारम्भिक जीवन अधिकतर साधु-सन्तों की संगति में ही व्यतीत हुआ था जिनकी सेवा में वे हर समय लगे रहा करते थे। उनके मन में एक प्रकार की धुन सी लगी रहती थी कि कब उन्हें सद्गुरु की चरण-शरण मिले और अपने जीवन को धन्य बना सकें। अतः साधु-सन्तों की सेवा के फलस्वरूप उन पर ईश्वर की कृपा हुई और स्वामी रामानन्द के रूप में उन्हें सद्गुरु की प्राप्ति हो गई।

स्वामी रामानन्द की शरण में जाने पर ही उन्हें अनुभूति मार्ग का दर्शन हुआ और वह कह उठे—

कबीर सेवा को दो भले, एक सन्त एक राम।
राम जो दाता मुक्ति के, सन्त जपावे नाम॥

इस प्रकार वह गुरुमहिमा का गान करते हुए आगे बढ़ते रहे और योग की मस्ती में अपने परम लक्ष्य को पाने हेतु झूम-झूम कर गाने लगे—

कौन मिलावे मोहि जोगिया,
जोगिया बिन रह्या न जाय॥

उनकी ऐसी दृढ़ लगन ने उन्हें नाथ सम्प्रदाय के महान योगिराज गुरु गोरखनाथ से मिला दिया तब उनका सम्पूर्ण जीवन ही योगमय हो गया। ज्ञान योग, हठयोग, सुरतियोग, सहज योग, भक्तियोग आदि जितने भी योग के व्यापक शब्द हैं, उन सब का इनके जीवन में भली प्रकार समावेश हो गया। ज्ञान मार्गी लोगों को उनके जीवन में ज्ञानयोग की झलक मिल जाती है जैसाकि स्थानस्थान पर उन्होंने ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा है—

खण्डित मूल निवास कहाँ,
किमि विग्रहत कीजै।
ज्यू जल में प्रतिबिम्ब,
त्यूं सकल रामहि जाणि जै॥

इस ब्रह्म की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है व अन्त में उसी में लय हो जाती है। जिस प्रकार सोने से कुण्डल बनते हैं और यदि कुण्डल पिघल जाते हैं तो फिर पूर्ववत् सोना हो जाता है। कबीरदास कहते हैं—

जैसे बहु कंचन से भूषण
कहि गालि तव नहिंगे।
ऐसे हम लोक वेद के
बिछुर सुन्निहि समायहिंगे॥

जीव और ब्रह्म में भेद केवल माया के ही आवरण से जान पड़ता है और यह आवरण अविद्या का रूप है। इसके हटने पर कोई भेद नहीं रहता। यह भाव निम्न-पंक्तियों में कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है कि—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है,
बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल ही समाना,
यह तथ कथो गियानी॥

अज्ञान के दूर होने पर ही माया, भ्रम-जाल नष्ट जाते हैं।

सन्तो भई ज्ञान की आंधी।
भ्रम की टाटी सभी उड़ानी
माया रहे न बांधी॥

कबीर का ज्ञान अनुभवहीन ज्ञान नहीं था। गुरु गोरखनाथ के सम्पर्क में आकर उनका जीवन और भी चमत्कारिक बन गया था। वे हठयोग की साधना से भी अछूते नहीं रहे। उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट हो जाता है—

एक साधन मिले बेनी कोई
गंगा जमुना रेती।
राम-नाम को बीज पड़ो है
उपजे हीरा मोती॥
काम क्रोध जीतो रे भैया
ममता करलो खोती।
उड्डियान बांधे नागन को
जगाती अमृतधार निचोती॥
प्राण अपान मिलाकर प्यारे
करलो नेति धोती।
गगन-मण्डल में आकर देखो
चमक रही एक जोती॥
सुरत निरत के बैल बनालो
जब चाहो तब जोति।
कहे कबीर सुनो भाई साधो
बिरला जाने रीति॥

उक्त पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने हठयोग की भली प्रकार साधना की। उड्डियान बन्ध नागिन (कुण्डलिनी) प्राणायाम, नेति, धोति उचित शब्दों का प्रयोग उचित प्रकार से एक योगी ही समझा सकता है। इतना ही नहीं कबीर ने कुण्डलिनी जागरण द्वारा अमृतपान करने की व नाना चक्र भेदन करने की चर्चा कितने निराले ढङ्ग से की है, वे कहते हैं—

"बंक नालि के अंतरे पश्चिम दिशा की बाट रे
नीझर झरै रस पीजिये तहाँ भँवर गुफा के
घाट रे
त्रिवेणी मह न्हाइये सुरति मिले जो हाथ रे"

इस प्रकार का वर्णन एक योगी ही कर सकता है। योग-साधना के द्वारा कबीरदास ने उस परम दिव्य जोति का दर्शन कर अपने को कृत-कृत्य कर लिया। वे कहते हैं—

सन्दा झलके घट माही,
अन्धी आँख सूझे नाहीं।
यही घट चन्दा यही घट सूर,
यही घट गाजे अनहद तूर॥
यही घट बाजे तबल निशान,
बहिरा शब्द सुने नहीं कान।
अनहद बाजे नीझर झरै,
उपजे ब्रह्म ज्ञान।
अवगति अन्तरि प्रगटे,
लागे प्रेम ध्यान॥

इनकी इन रचनाओं से हमें पता चलता है कि वे एक ऊँचे दर्जे के योगी थे। नीचे लिखा पद भी योग को प्राप्त कर जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाना बताता है यथा—

सतगुरु तेरी रे अटरिया
झिलमिल-झिलमिल होय।
ऊँची अटरिया जड़न किवरिया
रहो नैन में जोय॥
पहुँचेगा कोई सन्त विवेकी,
कुटिल, कुमति बिच खोय।
चांद सूरज दो भारत नाहीं,
रहे गगन में सोय॥
भृकुटी मध्य जपो सुमिरिनी,
पवन सूत में पोय।
गगन न गरजे अग्नि न लरजे,
बादल बूंद न होय॥
आठ पहर जहाँ अमृत वर्षा,
पीकर हंस अघोय।
कहत कबीर सुनो भाई साधु,
गुरु से मिले सब कोय॥
जो सतगुरु का दर्शन पावे,
जन्म-मरण ना होय॥

इस बीजबीज में कबीर दास की सबयोग अर्थात् सुरतियोग, निरति योग आदि योग के पहलुओं से निकले। यह सभी योग का अध्यात्म रूपान्तर था। अन्त में वे सहज योग को प्राप्त हो गये और अजपाजप को ही प्रधानता देते हुए लिखा कि—

अजपा जपत सुनि अभिअन्तरिय
हू तत जाने सोई।

सहज योग वर्णन करते हुए उन्होंने मन की साधना को ही सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि इसके निरोध से इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से दूर रहेंगी और फलतः साधक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से दूर रहेगा। ऐसे ही योगी का वर्णन करते हुए कबीर जी ने लिखा है कि—

अवधूत योगी जग से न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी
नादन खंडे धारा॥
बसे गगन में दुनि न देखे
चेतनि चौकी पसारा।
चढ़ि आकाश आसन नहिं छाड़े
पीवे महा रस मीठा॥
परगट कथा माहें जोगी
दिल में दरपन जोवे।
सहस इकीस छः सौ धागा
निहचल नाके पोवे॥

सच्चे आत्म-समर्पण के द्वारा ही मोक्ष-दाता योग मनुष्य को प्राप्त होता है। वैराग्य और श्रद्धा जीव को उसके परम लक्ष्य तक पहुँचा देती है, ऐसी अपने इष्ट के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति का होना परम आवश्यक है। इसका परिचय उनके जीवन में भली प्रकार मिलता है।

राम नाम जप नीच
जिन पर राम भक्ति नहीं साधी
जनमत क्यों न मुओ अपराधी।

इस प्रकार हम पाते हैं कि कबीर दास जी ने अपने जीवन में योग के सभी पहलुओं को अपनाकर योग की वास्तविकता का दर्शन करा दिया। ज्ञानयोग, हठयोग, लय-योग, सहजयोग, भक्ति योग आदि अलग-अलग विषय नहीं। उन्होंने संसार के भूले-भटके प्राणियों को सत्य-मार्ग दर्शन कराया। यह योग शक्ति का ही प्रभाव था कि वह निरक्षर होते हुए भी महान सन्त कहलाये। योग प्राप्त हो जाने पर सभी विद्यायें स्वयं प्रकाशित हो जाती हैं। ★

# ज्ञान और अज्ञान

श्री नारायण दत्त शास्त्री (सि० नि० आ० चि० प्र०)
सालवन (करनाल)

वास्तविक रीति से तो ज्ञान, अज्ञान दोनों ही अज्ञान हैं, परन्तु दोनों के फल में भिन्नता है। अज्ञान दुःख रूपी जाल में फंसाने वाला, और ज्ञान अज्ञान के फंसाने के दुःख का नाश करने वाला है। परन्तु ज्ञान अज्ञान का नाश करके स्वयं भी नहीं रहता, केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा रह जाता है। जैसे महाराजा शान्तुन के मरने के पश्चात् अपने सौतेले भाई चित्रांगद को गद्दी पर बैठाकर काशीराज की पुत्रियों के स्वयम्वर में पहुँच कर भीष्म उनकी तीनों पुत्रियों अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका का हरण करके हस्तिनापुर में ले आया और अपने भाइयों के साथ उनके विवाह की सम्मति माता सत्यवती से ली। तभी बड़ी लड़की भीष्म जी से बोली, मेरी इच्छा सौम्य देश के नरेश साल्व के साथ विवाह करने की है। इतना सुनकर भीष्म जी ने माता सत्यवती की सम्मति लेकर कुछ वृद्ध ब्राह्मणों और दासियों के साथ अम्बा को सौम्य देश भेज दिया। अम्बा ने वहां पहुँचकर राजा से अपना मनोरथ कहा, तब राजा बोला—तुम्हारा नाम अन्नपूर्णा है और भीष्मजी द्वारा तुम्हारा हरण हुआ है इसलिये मैं तुम से विवाह नहीं कर सकता। अम्बा ने कहा मैं अन्य किसी से विवाह करना नहीं चाहती। भीष्म जी ने मुझे अपने भाई के लिये हरण किया था, पर मेरे कहने से उन्होंने मुझे आपके पास भेज दिया, इसलिये अब आप मुझे ग्रहण करने की कृपा करें।

परन्तु राजा साल्व जब किसी तरह राजी नहीं हुआ तब वह वहां से रोती हुई तपस्वियों के आश्रम में पहुंची और उन्होंने उसे समझाकर भीष्म के पास भेज दिया। परन्तु जब भीष्म ने भी उसे स्वीकार नहीं किया तो वह दोनों ओर से दुःखी होकर रोती हुई फिर वन में चली गई और तपस्वियों से जाकर सब हाल कहा। तब तपस्वियों ने उसे परशुराम से मिलवाया उसने परशुराम जी से कहा मैं भीष्म का वध चाहती हूँ।

परशुराम ने भीष्म के साथ युद्ध किया परन्तु वह अपने शिष्य को परास्त नहीं कर सके। तब अम्बा निराश होकर गङ्गा किनारे पहुँचकर भीष्म वध के लिये तपस्या करने लगी। काफी दिन पीछे महादेव जी ने प्रसन्न होकर अम्बा से वरदान मांगने को कहा तब अम्बा हाथ जोड़कर बोली, प्रभुजी मैं भीष्म वध का वरदान चाहती हूं। महादेवजी ने उसे वरदान दिया, भीष्म का वध तेरे ही कर कमलों द्वारा होगा। अम्बा बोली, प्रभु मैं नारी हूँ मैं भीष्म का वध कैसे कर सकती हूँ। शिवजी बोले, तू मरने के पश्चात कन्या के रूप में राजा द्रुपद के घर में जन्म लेगी, फिर कुछ दिन पश्चात् पुरुष तत्व प्राप्त होगा और तुझे उस जन्म की स्मृति भी बनी रहेगी। ऐसा कहकर महादेवजी अन्तर्ध्यान हो गए। तभी अम्बा चिता जलाकर वहीं अग्नि में जलकर भस्म हो गई। उधर राजा द्रुपद ने भीष्म का वध करने के लिये सन्तान

माँगी। तब महादेवजी ने कहा, तुम्हारे एक कन्या होगी जो सियानी होने पर पुरुषत्व को प्राप्त हो जाएगी और भीष्म का वध करेगी। समय आने पर जब रानी के कन्या उत्पन्न हुई तो उसने सबमें कह दिया कि पुत्र जन्मा है, तब राजा ने सब संस्कार पुत्र के ही समान किए जो आगे चलकर शिखंडी नाम से जाना गया। जब शिखण्डी विवाह योग्य हुआ तब द्रुपद ने राजा दशार्णपति की कन्यासे उसका विवाह कर दिया। कुछ दिन पश्चात् राजा दशार्णपति को अपनी कन्या से विदित हुआ कि उसका पति शिखण्डी स्त्री है तब उसने एक पत्र लिखकर अपने दूत के द्वारा राजा द्रुपद के पास भेजा और उसमें लिखा कि आपने हमारे साथ कपट किया है। राजा द्रुपद ने अपने पत्र में लिखा कि आपकी बात गलत है पर उसकी पुत्री ने राजा द्रुपद को झूठा बतलाया तब राजा दशार्णपति ने राजा द्रुपद से युद्ध करने की तैयारी की। युद्ध का समाचार सुनकर राजा द्रुपद ने भी युद्ध की तैय्यारी की। इस समाचार को जब शिखण्डी ने सुना तब उसने सोचा कि यह सारा उत्पात मेरे ही कारण होगा, अतः यदि मैं अपने प्राण त्याग दूं तो सारा झगड़ा आप ही शान्त हो जायगा। इस प्रकार विचार कर वह वन में जाकर निराहार रहने लगी। उसी वन में स्थूलकर्ण नाम का एक यक्ष रहता था। शिखण्डी की कथा को सुनकर उसे दया आ गई। और यक्ष ने शिखण्डी से कहा कि यदि तू अपने प्रण को पूर्ति करे तो कुछ दिन के लिये मैं अपना पुरुषत्व तुम्हें देकर तुम्हारा स्त्रीत्व मैं ले सकता हूँ।

शिखण्डी ने कहा ठीक है। जब मेरा अवसर लौट आयेगा तब मैं यहाँ आकर तुम्हें तुम्हारा पुरुष तत्व वापस कर दूंगी। इतना सुनकर यक्ष ने अपना पुरुष तत्व शिखण्डी को दे दिया। और उसका स्त्रीतत्व आप ले लिया। शिखण्डी खुश होकर अपने घर आ पहुँचा और सारा वृत्तान्त अपने पिता राजा द्रुपद को सुनाया। उसी समय राजा दशार्णपति का दूत राजा द्रुपद के पास आया और उसने कहा कि हमारे राजा ने कहा है कि आपने उन्हें धोखा दिया है इसलिए वह आपका वध करेंगे। राजा द्रुपद ने कहा अपने राजा से जाकर बतलाओ कि तुम्हारा जामात्र पुरुष है आपको किसी ने गलत बहकाया है, आप उसकी परीक्षा करा लें। राजा ने नारियाँ भेजकर परीक्षा कराई तो उन्होंने यही कहा कि तुम्हारा जामात्र स्त्री नहीं पुरुष ही है। तब वह प्रसन्न होकर शिखण्डी को अधिक धन देकर और माफी माँगकर अपने नगर को लौट गया। इधर इसी समय एक दिन कुबेर यक्षाधिपति स्थूलकर्ण के निवास स्थान पर आ पहुँचे और यक्षों से पूछा कि स्थूलकर्ण कहाँ है। तब उन यक्षों ने कुबेर को स्थूलकर्ण का सारा हाल सुना डाला। जब स्थूलकर्ण को उन्होंने बुलवाया तो वह लज्जित होता हुआ कुबेर के सन्मुख आया तब कुबेर ने कहा तू ने यक्षों का अपमान किया है इसलिये अब मरण-पर्यन्त तू स्त्री ही रहेगा और शिखण्डी पुरुष रहेगा। उसके मरने के पश्चात् ही तू पुरुष हो सकेगा। ऐसा कहकर कुबेर चले गए। जब शिखण्डी पुरुषतत्व लौटाने के लिए स्थूलकर्ण के पास गया तो उसने कुबेर के

शाप का उसे सारा वृत्तान्त सुनाया जिसे सुनकर शिखण्डी प्रसन्न होकर लौट आया। और गरीबों को बहुत-सा धन दिया।

उसके पश्चात् शिखण्डी और धृष्टद्युम्न दोनों राजकुमारों ने मिलकर द्रोण गुरु से धनुर्विद्या सीखी और कौरव-पाण्डवों के युद्ध में जब शिखण्डी ने भीष्म से युद्ध किया तो भीष्म ने स्त्री जानकर उसके सम्मुख अस्त्र चलाना अस्वीकार कर दिया। क्योंकि उसके स्त्री होने की जानकारी नारदजी द्वारा उन्हें पहले ही मिल गई थी, इसीलिये स्त्री से युद्ध करना भीष्म ने उचित नहीं समझा और अपने हथियार रख दिये तभी उन निहत्थे भीष्म का मरण हुआ। भीष्म जी जन्म से वसु यानी बने हुए आत्मस्वरूप थे चैतन्य विशिष्ठ वशिष्ठ की कामनास्वरूप कामदुधा गऊ को चुराने से भ्रष्ट होकर व्यतिगत साक्षी चैतन्य आनन्दाभास हुए तथा माया और चैतन्य की सन्धि स्वरूप काशी के राजा की त्रिगुणात्मक तीनों पुत्रियों को स्वयम्वरों से अपने सौतेले भाई चिदाभास और सदाभास रूप चित्रांगद और विचित्रवीर्य से विवाह करने के लिए उन्हें हरणकर लाए थे। ब्रह्मचर्य के कारण भीष्म के कोई सन्तान नहीं हुई और अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत के गरूर से अपने भाइयों के लिए तीनों कन्याओं का हरण किया। आध्यात्मिक शक्ति, शारीरिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, ब्रह्मचर्य शक्ति आदि कोई भी शक्ति क्यों न हो, इसका अभिमान करना विनाश का ही कारण बनता है। भीष्म अगर अधर्म कर अपने ब्रह्मचर्य के गरूर में चूर न रहते तो महाभारत का युद्ध शायद नहीं होता। जब उनके दोनों भाइयों की मृत्यु हो गई तब उसके पश्चात भी भीष्म ने गान्धार नरेश को जा धमकाया कि आप अपनी पुत्री का विवाह मेरे अन्धे भतीजे राजा धृतराष्ट्र से राजी-खुशी करदो नहीं तो तुम्हारे सारे राज्य को जलाकर मैं तहस-नहस कर दूंगा। गान्धार नरेश को मजबूरी वश में अपनी रूपवती कन्या का भीष्मजी के भय के कारण अन्धे राजा से विवाह करने को तैयार होना पड़ा। विरोध का कोई सार नहीं निकला और सारा गान्धारी परिवार मन मसोस कर रह गया। अन्ततः अपने प्राणों से प्यारी पुत्री को भीष्म जी के साथ हस्तिनापुर भेजना पड़ा। शकुनी दांत पीसता रह गया। और जब उन दोनों भाई-बहनों ने राजा धृतराष्ट्र के बजाय पाण्डु नरेश को राजसिंहासन पर शोभायमान देखा तो उस नौजवान शकुनी का हृदय रो पड़ा उसके पैरों के नीचे से धरती खिसकने लगी कि भीष्म इतना छल-कपट भी कर सकता है।

तब शकुनी ने प्रण किया कि अगर मैंने अपनी चतुराई से इन कौरवों और पाण्डवों को आपस में लड़ाकर भीष्म व भीष्म के वंशजों को नष्ट करके इस दुष्टता का बदला न लिया तो मेरा नाम भी शकुनी नहीं। जब उसने भीष्म के कपट की बात अपनी बहन गान्धारी को बतलाई तो उस बेचारी ने अपने हृदय पर पत्थर रखकर अपनी आंखों पर तुरन्त पट्टी बांध ली कि जिन्दगी भर ऐसे दगाबाजों की सूरत मैं नहीं देखूंगी। और शकुनी ने विचारा कि पहले मैं महाराजा पाण्डु को ही किसी प्रकार मरवा-

कर अपने अन्धे बहनोई धृतराष्ट्र को राजा बनाऊँ तभी मेरी योजना सफल हो सकेगी।

इस प्रकार मन में विचार कर कौरव वंश के नाश की वह मन ही मन योजना बनाने में लग गया। वह चतुर शकुनी राजा पाण्डु से कभी शेर के शिकार की बात करता, कभी किसी दिलेर राजा पर चढ़ाई करने को उकसाता और पाण्डु की तारीफों के पुल बाँध-बाँधकर कहता कि आप तो चक्रवर्ती नरेश हैं आपके एक इशारे में संसार नष्ट हो सकता है। आपकी वीरताई का क्या कोई मुख से बखान कर सकता है। इस प्रकार भाँति-भाँति से राजा पाण्डु की वीरताई का वह मौका मिलते ही बखान किया करता। उसकी अन्तर ज्वाला को वह भोलाभाला पाण्डु नरेश जो छल-कपट से कोसों दूर था किस प्रकार समझ सकता था और जिस प्रकार शकुनी कहता उसी प्रकार अपनी मूँछें मरोड़कर तैयार हो जाया करता। एक दिन राजा पाण्डु का काल आ गया और अपने पाँच पुत्र और दो रानियों को रोता-बिलखता छोड़ छोड़ स्वर्गलोक सिधार गया।

इस प्रकार राजकुमार शकुनी की प्रथम मनोकामना पूर्ण हुई, और कुछ समय पश्चात् जब धृतराष्ट्र नरेश राजसिंहासन पर बैठे तब शकुनी की दूसरी मनोकामना पूरी हुई। और अति प्रसन्न हो अपने मन में वह कहने लगा, आज से उनके नाश की चाबी मेरे हाथ में आई समझो, अब मेरी मनोकामना ईश्वर की कृपा से एक दिन अवश्य पूरी हो जावेगी। बिना मनोकामना पूरी किये मैं अपने माता-पिता को अपना मुख नहीं दिखलाऊँगा। बाकी की राजकुमार शकुनी की करतूतों का पूरा विवरण महाभारत के १८वें पर्व को पढ़ने से ही जाना जावेगा।

---

## दृढ़ संकल्प

★ दृढ़ संकल्प ऐसी प्रबल मनोभावना है, जिसमें भारी शक्ति छिपी रहती है। ऐसे अनेकों प्रमाण मिलेंगे कि मनुष्य जब अविचारवश किसी अप्राप्त सुख को या सुखद पदार्थ एवं सुखद सम्बन्धी को प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प कर लेता है, तब कहीं भी आलस्य न करते हुए अपनी समग्र शक्ति लगाकर अपना अधिक से अधिक समय देकर संकल्प को पूर्ण करता है। जो व्यक्ति धन के होते हुए भी लोभवश, दान नहीं दे पाता, किसी दुःखी दीन की सेवा नहीं कर पाता, जो पुण्य लाभ का अवसर खोता रहता है, वही व्यक्ति अभिमानवश किसी को नीचा दिखाने का अथवा किसी प्रकार के लाभ की सिद्धि के लिए प्रतिपक्षी को पछाड़ने का जब दृढ़ संकल्प कर लेता है, तब अपनी उसी संचित सम्पत्ति-शक्ति का अपव्यय करते हुए बड़ी उदारता का परिचय देता है। जो व्यक्ति अविचारवश अशुभ संकल्पों की पूर्ति के लिये अपनी सम्पत्ति, शक्ति का उदारतापूर्वक त्याग कर सकता है, वही यदि शुभ कर्मों की पूर्ति का, सद्भावना पूर्वक सद्गति का तथा सद्भावना पूर्वक शान्ति प्राप्ति का दृढ़ संकल्प करे तो अवश्य ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। (दिव्य मन्त्रणा से)

# श्रीमद्भगवद्गीता के 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' पद का महत्व

⊛ श्री डॉ० जयनारायण
६/५ श्रमिक बस्ती, तालकटोरा, तालकटोरा रोड, लखनऊ

पाण्डवों के बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास समाप्त होने के पश्चात् दुर्योधन द्वारा सुई की नोक के बराबर जमीन भी बिना युद्ध के देने को स्वीकार न किये जाने पर कौरव एवं पाण्डवों का युद्ध होना निश्चित हो गया। इस कटु सत्य को महर्षि वेदव्यास जी ने धृतराष्ट्र को अवगत कराया कि इस युद्ध में क्षत्रियों का महान संघर्ष होना अनिवार्य है। यदि तुम्हें युद्ध देखने की इच्छा हो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे सकता हूँ। इस पर धृतराष्ट्र ने कहा कि मैं जन्म भर अन्धा रहा, अब अपने कुल संहार को मैं देखना नहीं चाहता। परन्तु युद्ध कैसे हो रहा है—यह समाचार जरूर सुनना चाहता हूँ। तब व्यास जी ने कहा कि 'मैं गवल्गण नायक सूतपुत्र संजय को दिव्य दृष्टि देता हूँ, जिससे यह सम्पूर्ण युद्ध को, सम्पूर्ण घटनाओं को, सैनिकों के मन में आई हुई बातों को जान लेगा, सुन लेगा, देख लेगा और सब बातें तुम्हें सुना भी देगा।' ऐसा कहकर व्यास जी ने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की।

निश्चित समय के अनुसार कुरुक्षेत्र में युद्ध आरम्भ हुआ। सम्पूर्ण महाभारत युद्ध १८ दिन चला। दस दिन संजय युद्ध स्थल में ही रहे। जब पितामह भीष्म बाणों के द्वारा रथ से गिरा दिये गये, तब संजय ने हस्तिनापुर में (जहाँ धृतराष्ट्र विराजमान थे) आकर धृतराष्ट्र को यह समाचार सुनाया। इस समाचार को सुनकर धृतराष्ट्र को बड़ा दुःख हुआ और विलाप करने लगे। फिर उन्होंने संजय से युद्ध का सारा वृत्तान्त सुनाने के लिए कहा।

महाभारत युद्ध १८ दिन चला। इसी आधार पर महाभारत में कुल १८ पर्व हैं। इन पर्वों के अन्तर्गत 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर्व है, जो भीष्म पर्व के १३वें अध्याय से आरम्भ होकर ४२वें अध्याय में समाप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी विभिन्न आध्यात्मिक पहलुओं को समावेश करते हुए १८ अध्याय हैं। इस प्रकार संजय ने भीष्म पर्व के २४वें अध्याय तक धृतराष्ट्र को युद्ध सम्बन्धी बातें सुनायीं। पच्चीसवें अध्याय के आरम्भ में धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं :—

**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।**
**मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥**

अर्थात्, हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

हस्तिनापुर के चहुँ ओर का मैदान कुरुक्षेत्र है। वर्तमान दिल्ली शहर इसी मैदान पर बसा हुआ है। महाभारत में यह कथा है कि कौरव-पाण्डवों का पूर्वज कुरु नाम का राजा इस मैदान को हल से बड़े कष्टपूर्वक जोता करता था, अतएव उसको 'क्षेत्र' कहते हैं।

जब इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इसमें जो लोग तप करते-करते युद्ध में मर जायेंगे, उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी तब उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया (सभा, शल्य, ५३)। इन्द्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र 'धर्मक्षेत्र' या 'पुण्यक्षेत्र' कहलाने लगा। इस क्षेत्र के विषय में यह कथा प्रचलित है कि भगवान परशुराम ने २१ बार सारी पृथ्वी को निःक्षत्रिय करके पितृतर्पण किया था। यही कारण है कि आज भी कुरुक्षेत्र में पितृतर्पण करने की प्रथा प्रचलित है। कुरुक्षेत्र का ऐसा संयोग है कि अर्वाचीन काल में भी इसी क्षेत्र पर बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हो चुकी हैं जिन्होंने भारत देश के इतिहास की धारा को ही पलट दिया।

संसार में प्रायः तीन बातों को लेकर लड़ाई होती आई है—भूमि, धन और स्त्री। इन तीनों में भी राजाओं का आपस में लड़ना मुख्यतः जमीन को लेकर होता है। यहाँ 'कुरुक्षेत्र' पद देने का तात्पर्य भी जमीन को लेकर लड़ने में है। कुरुवंश में धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र सभी एक समान आते हैं। कुरुवंशी होने से दोनों का कुरुक्षेत्र में अर्थात् राजा कुरु की जमीन पर समान हक लगता है। इसलिये (कौरवों द्वारा पाण्डवों को जमीन न देने के कारण) दोनों जमीन के लिये लड़ाई करने आये हुए हैं।

यद्यपि अपनी भूमि होने के कारण दोनों के लिये 'कुरुक्षेत्र' पद देना युक्तिसंगत है, तथापि हमारी सनातन वैदिक संस्कृति ऐसी विलक्षण है कि कोई कार्य करना होता है तो वह धर्म को सामने रखकर ही होता है। युद्ध जैसा कार्य भी धर्मभूमि—तीर्थभूमि में ही करते हैं, जिससे युद्ध में मरने वालों का उद्धार हो जाय। अतः यहाँ कुरुक्षेत्र के साथ 'धर्मक्षेत्र' पद आया है।

श्रीमद्भगवद्गीता के आरम्भ में 'धर्म' पद से एक और बात स्पष्ट होती है। यदि आरम्भ के 'धर्म' पद में से 'धर' लिया जाय और गीता के १८वें अध्याय के अन्तिम श्लोक के 'मम' पद में से 'म' लिया जाय तो 'धर्म' शब्द बन जाता है। अतः सम्पूर्ण गीता धर्म के अन्तर्गत है अर्थात् धर्म का पालन करने से गीता के सिद्धान्तों का पालन हो जाता है। और गीता के सिद्धान्तों के अनुसार कर्तव्य कर्म करने से धर्म का अनुष्ठान हो जाता है।

इन 'धर्मक्षेत्रे' 'कुरुक्षेत्रे' पदों से सभी मनुष्यों को यह शिक्षा लेनी चाहिए कि कोई भी कार्य करना हो तो वह धर्म को सामने रखकर ही करना चाहिये। प्रत्येक कार्य सबके हित की दृष्टि से ही करना चाहिये, केवल अपने सुख आराम की दृष्टि से नहीं, और कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में शास्त्र को सामने रखना चाहिए। (गीता १६/२४)

---

★ तुम्हारी जीवन-विजय तभी सत्य है जब तुम्हारा चित्त काम, क्रोध, आलस्य, भ्रान्ति और संशय से रहित हो जाय, क्योंकि ऐसी स्थिति में उठकर ही तुम अपना और पराया हित सिद्ध कर सकोगे।

# श्रद्धा और विश्वास—एक अनिवार्यता


❀ श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा

'प्रिया निकुञ्ज' ३०६-A (अभिषेक) एल्डिको उद्यान–दो,

उतरेटिया, (रायबरेली रोड) लखनऊ


श्रद्धा और विश्वास इन दो शब्दों का यदि सम्यक् रीत्या विवेचन किया जाय तो इन दोनों शब्दों में सन्निहित महान् शक्तियों की प्रतीति निश्चित रूप से होगी। यही दो शब्द ऐसे हैं जो अमूर्त को भी मूर्त रूप प्रदान करने की सामर्थ्य अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए हैं। स्थूल दृष्ट्या तो हम मात्र उन पदार्थों का बोध करने में समर्थ होते हैं, जहाँ तक हमारी चाक्षुष इन्द्रिय की सीमा है। परन्तु ऐसे तत्त्व हैं जो अव्यक्त हैं और स्थूल दृष्टि से नहीं देखे जा सकते हैं उनके लिये हमें श्रद्धा और विश्वास—इन दो शब्दों के माध्यम से ही, उस अगोचर तत्त्व को गोचर कर लेने की सामर्थ्य प्राप्त हुआ करती है।

जैसा कि आप, हम, सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की योनि में पदार्पण तथा उसके साथ, अच्छे कुल में संस्थिति, आचार एवम् विचारों की श्रेष्ठता, सद्-बुद्धि का विकास, विवेक, आस्तिकता इत्यादि गुणों का समावेश ही मनुष्य योनि की उत्कृष्टता के स्तम्भ हैं। इन्हीं के अवलम्ब से पूर्व जन्मोपार्जित संस्कार भी यदि तदनुरूप श्रेष्ठ हों तब तो 'सोने में सुहागा' की लोकोक्ति चरितार्थ होने की बात सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य जीवन की सार्थकता, यह निर्विवाद है, आत्म साक्षात्कार कर लेने में ही है। आत्मिक गुणों के संस्कार भी तदनुकूल आचरण कर लेने में ही निहित हुआ करते हैं।

यह भी विवेच्य है कि स्थूल से हम जितना सूक्ष्म की ओर अग्रसर होते हैं, उतना ही हमें स्वयं में भी उसीके अनुरूप सूक्ष्म-मनन, सूक्ष्म-चिन्तन तथा सूक्ष्म-आत्म विश्लेषण की आवश्यकता हुआ करती है। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार से आत्म तत्त्व अदृश्य, अव्यक्त, अगोचर, अपरिमेय, निर्विकार आदि अनेक सूक्ष्माभिधानों एवम् विशेषणों से अभिवाच्य है यदि उसके अवबोध के लिए भी हमें उस आत्म तत्त्व की अभिव्यक्ति हेतु अपने अन्दर उन-उन गुणों के समावेश हेतु किसी भी प्रक्रिया का अवलम्ब लेना होगा। यह प्रक्रिया-विशेष विभिन्न प्रकार के योगों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में शास्त्रों में वर्णित है।

योगान्त अनेक शब्द देखने को मिलते हैं। यथा, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, वैराग्य योग, प्रेमयोग, राजयोग, हठयोग, सिद्धयोग, आदि-आदि। इस लेख का प्रतिपाद्य विषय इन योगान्त शब्दों की व्याख्या का नहीं है परन्तु हाँ, इतना तो अवश्य ज्ञातव्य है कि प्रत्येक उपर्युक्त योगान्त योगों का मात्र लक्ष्य मनुष्य को उसकी स्वभावज रुचि के अनुसार एक ही अभीष्ट गन्तव्य तक ले जाना है। "भिन्नरुचिर्हि लोकः" के अनुसार रुचि-वैभिन्न

होते हुए भी सभी का मन्तव्य एक ही है और वस्तुतः वह है आत्म तत्व को परमात्मा तत्व तक पहुँचाने का एकमेव श्रेयस्कर मार्ग।

आत्म तत्व की उपलब्धि यद्यपि एक दुरूह तथा कठिन मर्म है परन्तु ऐसा नहीं है कि असम्भव हो। पूर्वकाल में हमारे ही पूर्वजों ऋषि-महर्षियों, सन्तों तथा महात्माओं ने स्वानुभूत तत्वों का दिग्दर्शन कराया है तथा वहां तक पहुँचने के अपने अनुभवों को विविध ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन के साथ प्रस्तुत भी किया है। यह ऐसा विषय है जिसका अभि-व्यक्तीकरण शब्दों के माध्यम से उतना सुगम नहीं जितना कि स्वयं अनुभव की कसौटी पर खरा उतरने के पश्चात् सम्भव है। इसका अभिव्यक्तीकरण गूँगे द्वारा गुड़ के स्वाद के वर्णन करने के समतुल्य है। स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम निष्कर्षों का विवेचन उन्हें ही सुबोधगम्य हो भी सकता है जो स्वयं उस स्तर तक अनुभवशील हो चुके हैं। इसके लिये किसी भी योग में प्रवेश से पूर्व उसके प्रति अपार निष्ठा, श्रद्धा एवम् विश्वास का होना एक अनिवार्य अङ्ग है। सन्त प्रवर तुलसीदास जी ने श्रीमद्रामचरित मानस के आरम्भ में ही इन दो शब्दों का निरूपण इस प्रकार किया है—

**भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वास रूपिणौ।**
**याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥**

कितना हृदयग्राही, विशद एवम् सूक्ष्म-संयोग में तुलसीदास जी ने हमारे सम्मुख अपने द्वारा अनुभूत सत्य का प्रस्तुतीकरण किया है। इसमें दर्शन तथ्य हमारे सामने आ रहे हैं। भवानी शक्तिरूपा, मातृरूपा, श्रद्धा का स्वरूप बतलाई गई है। "श्रद्धा" शब्द का व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीवाची शब्द है ही। "विश्वास" शब्द 'पुल्लिङ्ग' होते हुए शङ्कर भगवान के निमित्त प्रयुक्त है। श्रद्धा शब्द की व्युत्पत्ति कुछ इस प्रकार है—

**श्रद्धा**—श्रत्+धा+अङ्+टाप् से व्युत्पन्न श्रद्धा शब्द की रचना हुई है। "धा" धातु के पूर्व में श्री से उति प्रत्यय से श्रत् शब्द बना। श्रत् शब्द अव्यय एवम् उपसर्ग दोनों के रूप में प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ निष्ठा, आस्था तथा भरोसा आदि है।

**विश्वास**—शब्द की व्युत्पत्ति में "वि" पूर्व उपसर्ग रूप में प्रयुक्त है और "श्वास" शब्द साधारणतया प्रयुक्त सांस के अर्थ में ले लेने से विशिष्ट प्रकार के उस श्वास के तैरन्तर्य से है जो निर्बाध गतिक जिस किसी भी परिस्थिति में प्रवहमान रहता है। इसी सीमा तक विश्वास की पराकाष्ठा मनुष्य मात्र के मार्ग को प्रशस्त न करे, ऐसा कदापि सम्भाव्य नहीं है।

इस प्रकार की श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता है इस क्षेत्र में प्रविविक्षुओं के लिये और फिर अन्तःस्थ ईश्वर की खोज सुलभ एवम् सुगम हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं रह जाती। आवश्यकता मात्र है साधक विशेष के श्रद्धा तथा विश्वास की ही।

पातञ्जल योगदर्शन में श्रद्धा की व्याख्या करते हुए महामुनि व्यासदेव अपने मुखारविन्द से कहते हैं—'मातेव श्रद्धा योगिनं पाति' अर्थात् माता की तरह से श्रद्धा योगी की रक्षा करती है। जिस प्रकार से एक माता वात्सल्य भाव में पग-पग पर बच्चे की देख-भाल करती है उसी प्रकार अटूट श्रद्धा भी सदा मातृवत् वात्सल्य एवं योगी की निष्ठा व श्रद्धा के रहते हुए करती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में तो स्थान-स्थान पर श्रद्धा शब्दों का दर्शन होता है। भगवद्गीता के छठवें अध्यायान्तर्गत अन्तिम दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ।।
योगिनामपि सर्वेषां, मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां, स मे युक्ततमो मतः ।।

(गीता ६/४६-४७)

—अर्थात्, तपस्वियों में श्रेष्ठ योगी होता है। ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ योगी का स्थान है। स्वकर्मपरायण लोगों से भी ऊँचा स्थान योगी का होता है। अतः हे अर्जुन! तुम योगी बनो।

—इसी क्रम में उसके अग्रिम श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

सभी योगियों में भी जो अन्तरात्मा से मुझ में लीन है और जो श्रद्धापूर्वक मेरा ही ध्यान करता है वही युक्ततम योगी है। कहने का अभिप्रायः यह है कि श्रद्धा का स्थान सर्वोपरि है।

इसी प्रकार से श्रीमद्भगवद्गीता में भगवद्वचन कितने विशद रूप से अङ्कित है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात् यह चैतन्य विशिष्ट आत्मतत्व श्रद्धामय ही है। जिसकी जहाँ श्रद्धा होती है वह वही हो जाता है।

इसके अतिरिक्त आप सभी विद्वान् महानुभाव इससे भलीभाँति अवगत ही हैं कि भगवद्गीता का सत्रहवाँ अध्याय तो श्रद्धात्रय विभाग योगो नाम से ही अभिहित किया गया है।

अधिक विस्तार से अच्छा होगा कि संक्षेप में हम यह जान लें कि श्रद्धा और विश्वास दो ऐसे रत्न हैं जिनके आलोक से उन्नति के सोपानों पर मनुष्य अग्रसर होते हुए अपने गन्तव्य लक्ष्य को अवश्यमेव प्राप्त कर ही लेते हैं। हाँ, इतना जरूर है कि श्रद्धा और विश्वास ही तो हमारे आराध्यदेव, सकलगुण निधान, करुणार्णव, अनन्तश्री विभूषित योगिवर्य श्री चन्द्रमोहन जी महाराज सदृश, जो अपने गुरुदेव के प्रतिवाक्य को अक्षरशः पालन करते हुए हम सबके लिये एक ज्वलन्त आदर्श स्थापित कर हमारा मार्ग प्रशस्त कर चुके हैं। हम सब धन्य हैं जो उनके चरण-कमलों के सान्निध्य-सौभाग्य से ओत-प्रोत रहे हैं और कृतकृत्य हुए हैं।

हमारा आचरण हमारी श्रद्धा एवं विश्वास उनके प्रति भी अटूट श्रद्धा एवम् विश्वास में परिणत होता रहे, हम सब उनके इसी कृपाप्रसाद के संतत अभिलाषी हैं।

## ब्र० श्री रघुराज को श्री प्रभुजी का दर्शन लाभ

(पृष्ठ २६ का शेष)

हमारी लगन में तीव्र वेग देखते हैं। इस तीव्र वेग वाली लगन के फलस्वरूप कोई भी साधक योग सिद्धान्तों के क्रियात्मक प्रयासों में सफलता अर्जित कर सकता है, बस इतना स्मरण अवश्य रखना कि गुरुदेव की कभी अवज्ञा न हो।

इस घटना के बाद, रघुराज भइया की लगन गुरुदेव के श्री चरणों में त्वरित वेग से बढ़ने लगी। वे नित्य अपने घर से प्रातः सुबह ही निकल कर आश्रम में आ जाते और सभी ब्रह्मचारियों के साथ योगासन करते, गौशाला में श्रमदान करते। हर प्रकार से गुरुदेव को रिझाने का प्रयास करते। रघुराज भइया ने मयूर आसन पर अच्छा अभ्यास किया था। एक बार महाराज जी ने रघुराज भइया, ब्रह्मचारी वीरेन्द्र तथा ब्र० वेदराम के मध्य मयूर आसन को लेकर एक प्रतियोगिता रखी कि जो सबसे अच्छा आसन बनाकर दिखायेगा तथा देर तक टिका रहेगा उसे एक पैसा इनाम में मिलेगा और बूंदी का प्रसाद भी मिलेगा। उस समय में एक पैसे का मूल्य काफी होता था। तीनों ने अच्छा प्रयास किया। अन्ततोगत्वा रघुराज भइया को ही विजयश्री प्राप्त हुई। महाराज जी रघुराज भइया पर बड़े प्रसन्न हुए। इस प्रकार सच्ची श्रद्धा तथा सेवा में तत्परता दिखलाकर गुरुदेव को रिझाने की, रघुराज भइया पूरी कोशिश करते थे। एक दिन प्रसन्नावस्था में गुरुदेव ने उन्हें आदेश किया कि गुफा में बैठकर श्री प्रभुजी को रामायण सुनाया करो। रघुराज भइया ने नियमित रूप से गुफा में श्री प्रभुजी के स्वरूपों के समक्ष रामायण का पाठ करना शुरू कर दिया।

आश्रम में आने वाले श्रद्धालुओं व योग जिज्ञासुओं की आध्यात्मिक तथा भौतिक समस्याओं का निवारण करने के लिए गुरुदेव हमेशा तत्पर दिखलाई पड़ते थे। विभिन्न प्रकार के असाध्य रोगों से पीड़ित जनसमुदाय गुरुदेव की पावन शरण में नित्य आता रहता था। श्री सद्गुरुदेव जी स्नेह से उनकी सभी बातें सुनते, उन्हें आवश्यकतानुसार आश्रम में ठहरने का आदेश करते और उन्हें जीवन तत्व साधन, योगासन, नेती तथा धौती आदि निःशुल्क यौगिक चिकित्सा का सम्बल देकर तथा अपनी अनुपम कृपा दृष्टि के द्वारा परोक्ष रूप से रोगियों के अनेकों पूर्व जन्मों के महापातकों को काटकर, उनके भयंकर मृत्यु जन्य रोगों को निष्कृति किया करते थे। इस प्रकार फिर तैयार करते थे उनके लिए एक सुव्यवस्थित योगमार्ग, जिस पर चलकर न जाने कितने लोगों ने अपना जीवन सफल बना लिया। योगी गुरुदेव के समक्ष अपने ध्यानानुभव कहते, जिनमें अनेकों प्रकार के पारलौकिक दिव्य दर्शनों की सिद्धों तथा देवी-देवताओं के दर्शनों की, दिव्य अनुभूतियों की चर्चा होती थी। रघुराज भइया यह सब सुनकर बड़े अचम्भित होते थे, सोचते यदि गुरुदेव जी की कृपा हो जाये तो मुझे भी ऐसी ही अनुभूतियाँ प्राप्त हुआ करें। लेकिन पहले गुरु दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक था, अभी तक उस शुभ घड़ी का योग नहीं बन पाया था। एक दिन उन्होंने गुरुदेवजी से कहा कि महाराज जी जिस दिन आप विशेष आह्लादित हों, उसी दिन आप मुझे गुरुदीक्षा प्रदान करना और वही मन्त्र देना जो श्री प्रभुजी ने आपको दिया था। भोलेपन और सरलता से कही इन बातों को

सुनकर गुरुदेव को हँसी आ गई। गुरुदेव श्री ने लोगों की ओर दृष्टि उठाकर कहा, देखो हमारा ये बच्चा वही मन्त्र चाहता है जो श्री प्रभुजी ने इसको प्रदान किया था। इस प्रकार थोड़ी देर के लिए विनोद-पूर्ण वातावरण बन गया, रघुराज स्वयं पर थोड़े लज्जित भी हुए। लेकिन फिर बड़े स्नेह के साथ गुरुदेव कहने लगे, लल्ला! हृदय में उठी किसी भी बात को गुरुदेव के समक्ष अभिव्यक्त करने में लज्जा की कोई बात नहीं। संशय रहित होकर पूरी ईमानदारी के साथ अपने हृदय में उठे भावों को अपने गुरु से कह देना तो बहुत अच्छी बात है।

वास्तव में एक दिन गुरुदेव ने रघुराज भइया को उनके घर से बुलवाकर गुरुदीक्षा प्रदान की, और गुरुमन्त्र देकर कहा, "लल्ला, हम जो गुरुमन्त्र तुम सभी को देते हैं यह वैदिक मन्त्र है। इस मन्त्र का अनेकों पौराणिक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। यह एक ऐसा मन्त्र है जिसमें बड़े-बड़े समर्थ देवी-देवता, तपोनिष्ठ ऋषि-मनीषि, योगी-ध्यानी यहाँ तक कि स्वयं भगवान सदाशिव भी इसी मन्त्र में समाधिस्थ हैं। यह मन्त्र ओंकार मन्त्र ( प्रणव मन्त्र ) तथा अजपा गायत्री मन्त्र दोनों महामन्त्रों का सम्मिलित रूप है। गुरुमन्त्र ग्रहण करने के उपरान्त अन्य मन्त्रों में भटकने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी मन्त्र से सभी मनोरथ सिद्ध होंगे, यदि नियम से मन्त्र जप करते रहोगे।

रघुराज भइया कई-कई घण्टे ध्यानाभ्यास अपने घर पर करते तथा आश्रम में भी करते। लेकिन उन्हें किसी भी प्रकार की कैसी भी अनुभूति नहीं होती थी। उनके मन में बड़ा भारी संशय बना रहता कि किसी-किसी व्यक्ति को तो गुरुदीक्षा वाले दिन ही अच्छी ध्यानावस्था बन जाती है, लेकिन मुझे कोई परिणाम नहीं मिला। इसका प्रमुख कारण गुरुदेव बतलाया करते थे, ऐसे साधकों का प्रारब्ध अच्छा होता है। तुरन्त ध्यान लाभ प्राप्त करने वाले साधकों को अपने पूर्व जन्मों में की गयी ध्यान साधनाओं का लाभ प्राप्त हुआ करता है। जिन लोगों को ध्यानानुभूति नहीं होती उन्हें अपना अभ्यास नहीं छोड़ना चाहिए। देर-सबेर उन आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की अनुकम्पा अपने शरणागत बालकों पर हो ही जाया करती है।

रघुराज भइया के मन में श्री प्रभुजी के दर्शन करने की तीव्र अभिलाषा थी। उन दिनों संकोची स्वभाव होने के कारण, गुरुदेव के समक्ष अपने भावों को व्यक्त करने की असमर्थता उनमें आज बनी ही रहती थी। वे सोचते कि गुरुदेव कभी अकेले में मिल जायें तो कुछ कहा जाए, लेकिन गुरुदेव तो अपने बच्चों से हर समय घिरे ही रहते थे।

एक दिन उन्होंने देखा कि महाराज जी लघुशंका हेतु खेतों की तरफ जा रहे हैं। लौटते में पत्थर की पटिया, जो गुरुदेव की रसोई के नजदीक बनी हुई है (इस पटिया पर गुरुदेव लघुशंका अथवा दीर्घशंका के उपरान्त अपने हाथ-पैर धोया करते थे) के पास पहुँच कर रघुराज भइया ने श्री गुरुदेव जी को प्रणाम किया और उचित अवसर जानकर दीन वचनों के साथ निवेदन किया, "महाराज जी! आप सबके हृदय की बात जानते हैं यहाँ नित्य कितने ही लोग आते हैं, इन्हें आप अपनी करुणा-कृपा से ध्यान में अनेकों सिद्धों के दर्शन कराते हैं। राम, कृष्ण आदि से साक्षात्कार कराते हैं। इन्द्रलोक, पाताललोक, स्वर्गलोक तथा गोलोक धाम आदि अनेकों पवित्र स्थलों में, न जाने आप

जिज्ञासुओं को भ्रमण कराते हैं। कुछ मुझ पर भी दया कीजिए।" फिर रघुराज भइया ने गुरुदेव के कान के समीप अपना मुख करके (ताकि अन्य लोग भी इस प्रकार हठ करके श्री गुरुदेव को परेशानी में न डाल दें) धीरे से कहा, "महाराज जी! मेरी आप से एक विनय है मुझे आप श्री प्रभुजी के दर्शन करा दीजिए।" गुरुदेव ने बड़े प्रेम से रघुराज भइया के कन्धे पर अपने हाथ को टिकाते हुए कहा, "लल्ला! दर्शन तो हम प्रभुजी के अवश्य करा देंगे, किन्तु तुम्हें योग प्रचार हेतु हमारे साथ प्रोग्रामों में चलना होगा।" इस शर्त पर रघुराज भइया तुरन्त तैयार हो गये।

अपने घर के कृषि कार्यों की जिम्मेदारी अपने परिजनों व परिचित लोगों को सौंप-कर रघुराज भइया प्रथम बार श्री गुरुदेव जी के साथ योग प्रचार हेतु चल पड़े। प्रथम प्रोग्राम कलकत्ता में हुआ। यह प्रोग्राम १७ दिन तक चला। रघुराज भइया की उत्सुकता अपने चर्मोत्कर्ष पर थी। वे रात्रि को इसी आशा में सोते कि शायद आज रात्रि में श्री प्रभुजी के दर्शन हो जायें। एक-एक करके १७ दिन निकल गये लेकिन श्री प्रभुजी के दर्शन नहीं हुए। फिर आठ दिन का प्रोग्राम झरिया (बिहार) में हुआ, लेकिन यहाँ भी कोई सफलता नहीं मिली। अगले प्रोग्राम हेतु सभी लोग बनारस पहुँचे। रघुराज भइया ने विचार किया, यह तो परम धार्मिक स्थल है और परम पुण्य धाम है। यहाँ तो श्री प्रभुजी के दर्शन हो ही जायेंगे। रघुराज भइया ने पूरी लगन से योग प्रचार के कार्यक्रमों में भाग लिया था। जो भी कार्य गुरुदेव रघु-राज भइया को सौंपते थे, पूरे मनोयोग से श्रद्धायुक्त होकर वे उसे पूरा करते थे। श्री प्रभुजी के दर्शनों की धुन हर समय सवार रहती थी। श्री प्रभुजी के दर्शनों के विषय में गुरुदेव से पुनः पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया, "उचित समय आने पर तुम्हें दर्शन हो ही जायेंगे, चिन्ता क्यों करते हो लल्ला?" यहाँ पर भी कोई बात नहीं बनी। अगला प्रोग्राम जौनपुर में हुआ, लेकिन यहाँ भी उनका मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ। जौनपुर के प्रोग्राम के पश्चात् अगला प्रोग्राम इलाहाबाद में हुआ। रघुराज भइया ने मन में विचार किया कि यहाँ तो त्रिवेणी संगम है। शास्त्रों में संगम का महत्व उल्लेखित है। गुरुदेव त्रिवेणी संगम के महत्व को नित्य अपने प्रिय बालकों को समझाया करते थे। श्री प्रभुजी ने भी "स्वहस्त लिखित कथाएँ" नामक अपनी पुस्तक में कुछ श्लोकों में त्रिवेणी संगम स्नान के महत्व का अनूठा वर्णन किया है—

**अपवित्रः पवित्रो वा**
**सर्वावस्थां गतोऽपिवा।**
**स्नानाचरण मात्रेण**
**पूतो भवति नान्यथा॥**

अर्थात्, अपवित्र हो अथवा पवित्र हो कैसी भी स्थिति में हो, संगम में स्नान करने वाला सब प्रकार से पवित्र हो जाता है।

**मृत्युकालेप्लुतं देह**
**त्रिवेण्याः सलिले यदा।**
**विचिन्त्य मरत्यजेत् प्राणान्**
**स तदा मोक्ष माप्नुयात॥**

अर्थात्, मृत्यु काल में त्रिवेणी संगम का ध्यान करके जो शरीर छोड़ता है वह अवश्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार से चिन्तन करके रघुराज भइया के मन में विचार आया कि प्रभुजी के दर्शन होंगे तो यहीं होंगे नहीं तो फिर कभी नहीं होंगे। कई बार मन खीझ उठता था, मन में दुर्भावना पैदा हो जाती थी और वे सोचते कि महाराज जी अपना योग प्रचार कराने के लिए, मुझे श्री प्रभुजी के दर्शनों का प्रलोभन देकर यहाँ तक खींच लाये। अगर यहाँ दर्शन नहीं होंगे तो मैं अपने घर लौट जाऊँगा, ऐसा संकल्प बना लिया रघुराज भइया ने। यहाँ पर भी जैसे-जैसे प्रोग्राम की अवधि समाप्त होने को जा रही थी, वैसे ही वैसे रघुराज भइया में प्रभुजी के दर्शनों की जिज्ञासा बलवती होती जा रही थी। रघुराज भइया श्री महाराज के त्रिवेणी स्नान करने से पहले ही स्नान कर लिया करते थे। एक दिन महाराज जी ने स्नान के लिए जाने वाली अपनी टोली में रघुराज भइया को भी शामिल कर लिया। सभी ने महाराज जी के साथ स्नान किया। बाद में महाराज जी ने सभी को लौटा दिया और रघुराज भइया सहित कुछ प्रमुख लोगों को रोक लिया। महाराज जी ने एक नाव तय करवाई, और उन थोड़े ही लोगों को नाव में बिठाकर बड़ी दूर तक संगम में घुमवाया। महाराज जी सभी से रघुराज भइया की प्रशंसा करते। लेकिन इन बातों से उनके मन में कोई प्रसन्नता नहीं होती थी। वे सोचते थे कि महाराज जी, प्रभुजी के दर्शन तो करा नहीं सकते, अपना काम निकलवाने के लिए नौका-विहार का प्रबन्ध करके मेरा मन बहलाना चाहते हैं।

एक रात्रि में रघुराज भइया बड़े उदास और निराश मन से सो रहे थे कि करीब बारह-एक बजे उनकी आँखें अचानक खुल गयीं, उन्होंने चारों ओर बाहर दिन जैसा प्रकाश व्याप्त देखा। उनके मन में आया कि इतना दिन हो गया, प्रभुजी क्या कहते होंगे कि इतनी देर में सोकर उठते हैं। इसलिए बिना महाराज जी को प्रणाम किये ही स्नान करने के लिए चल पड़े। शौच आदि से निवृत्त होकर रघुराज भइया जैसे ही स्नान करने के लिए किनारे पर पहुँचे तो उन्हें ऐसा लगा जैसे मानो वे एक जल कुण्ड के समीप खड़े हों और उस जल कुण्ड में उन्होंने एक महात्मा जी को देखा। उन महात्मा जी ने बड़े स्नेह से कहा, आओ बेटा स्नान करलो इसमें बहुत पुण्य होगा। रघुराज जी के मन में शंका पैदा हुई कि ये प्रभुजी से तो लगते नहीं, कहीं ये कोई भूत-प्रेत न हो, ऐसा सोचकर वे पीछे हटने लगे तभी उन महात्माजी ने रघुराज भइया के कन्धे को हाथ से पकड़कर कहा, "अरे जाओगे कहाँ ?" उन महात्मा जी के हाथ के स्पर्श से ही उन्हें यह ज्ञान हो गया कि ये श्री प्रभुजी ही हैं। श्री प्रभुजी स्वयं अपने हाथों से रघुराज भइया के कुरते के बटन खोलने लगे और उन्हें स्नान के लिए कहने लगे।

रघुराज भइया ने कहा—"प्रभुजी, मैं आपके चरण स्पर्श करना चाहता हूँ।" श्री प्रभुजी की आज्ञा पाकर रघुराज भइया ने उस जल कुण्ड में उनके पावन श्रीचरणों को टटोला, लेकिन उन्हें चरण प्राप्त नहीं हुए। वे श्री प्रभुजी की टाँगों के सहारे-सहारे जल-कुण्ड में बहुत गहरे उतरते चले गये लेकिन उन्हें श्री प्रभुजी के चरण प्राप्त नहीं हुए तब श्री प्रभुजी ने अपने बाँये हाथ से उन्हें ऊपर खींच लिया और फिर पूछा कहो बेटा तुम्हें हमारे चरण प्राप्त हुए ? रघुराज भइया का निराश मन देखकर श्री प्रभुजी कहने लगे

अच्छा, एक बार और प्रयास करके देखूं तो शायद इस बार मिल जायें परन्तु इस बार भी रघुराज भइया उस जल कुण्ड की अनन्त गहराई तक उतरते चले गये लेकिन उन्हें श्री प्रभुजी के चरण प्राप्त नहीं हुए। श्री प्रभुजी ने उन्हें पुनः ऊपर खींच लिया और फिर वही प्रश्न दोहराया, "बेटा, क्या हमारे चरण प्राप्त हुए?" रघुराज भइया ने हाथ जोड़कर कहा—प्रभुजी जब तक आप न चाहो तब तक तीनों लोकों में कुछ भी होना सम्भव नहीं। अब आप मुझे अपने उन पावन श्री चरणों का स्पर्श कर लेने दीजिए जिन्हें पाने के लिए देवता भी प्रतिपल लाला-यित रहते हैं। रघुराज भइया के इस प्रकार से निवेदन करने पर प्रभुजी को उन पर दया आ गई, उन्होंने अपने चरणों को सामान्य अवस्था में अवस्थित कर लिया। इस प्रकार रघुराज भइया को प्रभुजी के चरण उस जलकुण्ड की ऊपरी सतह पर ही प्राप्त हो गये। रघुराज भइया ने बड़े प्रेम से श्री प्रभुजी के श्री चरणों में अपना शीश समर्पित किया और स्वयं को धन्य किया। उनका हृदय प्रभुजी की इस करुणानुकम्पा पर गद्-गद् हो गया था। कण्ठ जैसे स्वर-शून्य हो गया हो तथा मनोदशा श्री प्रभुजी का दर्शन करके महान आनन्द की प्राप्ति से ऐसी शिथिल हो गयी, कि प्रभुजी के समक्ष कुछ कहते नहीं बनता था। रघुराज भइया को परोक्ष रूप से एक शिक्षा भी मिल गयी थी जो हम सभी के लिए प्रेरणा स्वरूप है। उन्हें लगा जैसे प्रभुजी इस घटना के माध्यम से समझा रहे हों कि किसी भी प्रकार की महान उपलब्धि के लिए कठिन परिश्रम और संघर्ष की आवश्यकता रहती है। हृदय में तमाम जिज्ञासाओं को पालकर फिर उनकी उपलब्धि हेतु गुरुदेव को हठपूर्वक बाध्य करने में समय नष्ट न करके, पुरुषार्थ और श्रेष्ठ कर्मों में समय का सदुपयोग करते हुए अपनी निष्ठा दृढ़ रखनी चाहिए। सफलता प्राप्ति में विलम्ब की अवस्था में निराश न होकर अपने उद्देश्य में बारम्बार प्रयासरत रहना चाहिये, अन्ततोगत्वा गुरुदेव की कृपा प्राप्त हुआ ही करती है।

स्नान के बाद उस जलकुण्ड से निकल-कर श्री प्रभुजी अन्तर्ध्यान हो गये। रघुराज भइया ने प्रभुजी को ढूंढने के लिए बड़ी-बड़ी दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाई लेकिन प्रभुजी का कहीं पता नहीं चला। थककर वे उसी जलकुण्ड में डूबकर अपने प्राण त्यागने के लिए चल पड़े। तभी वहीं नजदीक ही श्री प्रभुजी उनको शंकरजी के रूप में दिखलाई पड़े। प्रभुजी ने अपने आगे धुनी लगा रखी थी। श्री प्रभुजी का देदीप्यमान युवा शरीर अति सुन्दर दिखाई पड़ता था, त्रिशूल गड़ा हुआ था उस पर डमरू सुशोभित हो रहा था प्रभुजी अपने शरीर पर रामनाम रहे थे। रघुराज भइया को बड़ी प्रसन्नता हुई, वे श्री प्रभुजी के समीप तुरन्त पहुंच गये। प्रभुजी कहने लगे, "हमने तुम्हारे तापने का इन्त-जाम कर दिया है, तुम्हें ठण्ड लग रही होगी आ जाओ बैठ जाओ।" प्रभुजी का आदेश पाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ वे प्रभुजी के समीप बैठ गये। प्रभुजी ने कहा—बेटा हमें रामायण नहीं सुनाओगे? प्रभुजी को पता था कि रघुराज हमें गुफा में नित्य रामायण सुनाता है। रघुराज भइया प्रभुजी की ऐसी इच्छा जानकर, तुरन्त रामायण की कुछ कण्ठस्थ चौपाइयाँ सुनाने लगे।

योगाधिपति नेपालपति आनन्दकन्द करुणानिधान श्री प्रभुजी ने अभी अपनी

लीला को विराम नहीं दिया था, जैसे आज उन्होंने अपने बालक रघुराज की समस्त हार्दिक अभिलाषाओं को पूरा करने का संकल्प बना लिया हो। कुछ समयोपरान्त श्री प्रभुजी बोले— बेटा! आरती का समय हो रहा है। हमें सवाई आश्रम पहुँचना है तुम भी हमारे साथ चलो। रघुराज भइया ने उत्सुकतापूर्वक पूछा, प्रभुजी! इतनी शीघ्रता में सवाई आश्रम पहुँचेंगे कैसे? श्री प्रभुजी ने अपना दाँया हाथ फैलाकर आगे बढ़ाया और उन्हें अपनी हथेली पर बैठ जाने के लिए कहा। जैसे ही वे प्रभुजी की हथेली पर बैठे, प्रभुजी ने अपनी हथेली पर एक फूंक मारी और तुरन्त ही रघुराज भइया आकाश में उड़ने लगे। इस प्रकार प्रभुजी उन्हें आकाश मार्ग से अपने साथ सवाई आश्रम में ले आये। प्रभुजी अपने स्थान पर विराजमान हो गये, तत्पश्चात उन्होंने एक तुरही के सदृश सुषिर वाद्य यन्त्र से तु तु तु ''''''' की ध्वनि करके अपने सभी भक्तगणों को आमन्त्रित किया। इस ध्वनि को सुनकर अनेकों हिमालयवासी महात्मा, आकाश मार्ग से आश्रम के दिव्य धरातल पर अवतरित होने लगे। वे सभी महात्मा, हजारों वर्षों की आयु वाले थे। उनकी लम्बी-लम्बी जटायें थीं, भ्रूलताएं कमर तक लटक रही थीं। श्री प्रभुजी ने सम्बोधन किया बेटा! ये सभी उच्चकोटि के महात्मा हैं, इन्हें प्रणाम करो, ये सभी तुम्हें आशीर्वाद प्रदान करेंगे। रघुराज भइया ने सभी को प्रणाम किया और उनसे दुर्लभ आशीर्वाद प्राप्त किये। उन सभी महात्माओं में से एक ने एक बहुत सुन्दर थाल सजाया था जिसमें अनेकों दीपक जगमगा रहे थे। सभी महात्माओं ने मिलकर प्रेमपूर्वक श्री प्रभुजी की ब्रह्ममुहूर्त में वेदमन्त्रों के साथ दिव्य आरती की, फिर सभी ने श्री प्रभुजी को साष्टांग प्रणाम किया।

आरती के पश्चात् सभी सिद्धपुरुष महात्मा प्रभुजी की आज्ञा पाकर आकाश मार्ग से हिमालय के लिए लौटने लगे। प्रभुजी रघुराज भइया से कहने लगे बेटा! अब हम तुम्हें वहीं संगम पर छोड़ देंगे। प्रभुजी ने पुनः अपना वृहदहस्त आगे बढ़ाया, रघुराज भइया को अपनी हथेली पर बैठाया और पहले की तरह ही फिर एक फूंक मारी। रघुराज भइया प्रभुजी के साथ अति तीव्र वेग से आकाश में उड़ने लगे। जब वे पुनः इलाहाबाद संगम पर पहुँचे तो रघुराज भइया ने देखा कि परम सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज, अपने सभी बालकों को जोर-जोर से आवाज लगा रहे हैं, चलो रे सभी त्रिवेणी स्नान। गुरुदेव की दृष्टि जब आकाश में रघुराज भइया पर पड़ी, तो वे अपने हाथ के संकेत से उन्हें नीचे बुलाने लगे। उन्होंने कहा पहले प्रभुजी उतरेंगे फिर फिर मैं उतरूँगा। प्रभुजी नीचे उतरकर अपने स्वरूप के समीप पहुँचकर अन्तर्धान हो गये। और रघुराज भइया नीचे उतरकर सद्गुरुदेव के चरण कमलों में लिपट गये।

गुरुदेव ने बड़े आह्लादित होकर, चेहरे पर सुमधुर मुस्कान बिखेरकर रघुराज भइया की पीठ थपथपाते हुए पूछा, "क्यों लल्ला, आखिर तुम्हारा मनोरथ पूरा हो ही गया।" अतिशय प्रेम विह्वल रघुराज भइया में तो जैसे उत्तर देने की सामर्थ्य ही नहीं रही थी। गुरुदेव की इस अद्भुत कृपा से उनकी समस्त देह परमानन्द से पुलकित हो रही थी। इस दिव्य-दुर्लभ दादा गुरुदेव-दर्शन की महान प्रसन्नता में उनकी हृदय गति अति तीव्र हो गई थी, उन्हें लगता था जैसे अभी हृदय फट

(शेष पृष्ठ ३५ पर)

# गुरु-शिष्य एकात्मत्व

❀ सौ० कविता शर्मा

एक हृदय में दो। यह संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य है क्योंकि वहीं गुरु है वहीं शिष्य! दोनों में कोई दूरी ही नहीं। एक ही हृदय में क्रियाशील आनन्द के महासागर में विलुप्त आकण्ठ निमग्न तैरते हुए और रसाप्लावित होते हुए। गुरु कहीं से आये नहीं, गुरु ने प्रवेश नहीं किया। बस हुआ यह कि श्री गुरुदेव आत्मस्थ थे, उनको पहचान हो गई, उनसे परिचय हो गया, क्षण-क्षण का साथ हो गया, एक-एक पल बात करने की कला जान ली। अपनी कहने की और उनसे सुनने की शैली सीख ली, रूठना भी सीख लिया और जिद करना भी, मनुहारें भी कर लीं और समझना समझाना भी। यही गुरु शिष्य का प्रेम है। कोई इसमें कभी भी विलुप्त नहीं होगा क्योंकि एक ही हृदय में जो दोनों को रहना है। दूर वह रह भी कैसे सकता है। गुरु ने तो अपना अस्तित्व ही नहीं माना कि मैं अपने शिष्य के बिना कुछ हूं। यही गुरु की विशेषता है। वार्तालाप भी आवश्यक नहीं, बोलकर कुछ कहना भी आवश्यक नहीं, कहीं जाने की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि—

**जाके गुरु परदेस बसत हैं,**
**लिख-लिख भेजे पाती।**
**मोरे गुरु मोरे हिय बसत हैं,**
**मैं कहुं आती न जाती॥**

दूरियाँ समाप्त हो जाती हैं और विराट पथ पर चलने के लिये कोई चिरसंगी मिल जाता है, कोई सखा बन जाता है और बन्धु भी। क्योंकि यह पथ सामान्य से कहीं ज्यादा लम्बा है, सामान्य से ज्यादा कठिनाइयों से भरा है, सामान्य से ज्यादा काँटे इस पर बिछे हैं और पग-पग पर ठोकरें भी तो हैं। आत्मस्थ गुरु जागृत हुआ नहीं कि एक-एक

(पृष्ठ ३४ से आगे)

जायेगा। वे बार-बार गुरुदेव जी के चरणों से लिपट जाते थे जैसे कहना चाहते हों—

**"मेरे सद्गुरुदेव महान् और नहीं कोई"**

उपरोक्त घटना ब्र० श्री रघुराज भइया की कोई ध्यानानुभूति नहीं है, न ही ये स्वप्न में देखा गया कोई दिव्य दर्शन है। महान आश्चर्य की बात यह है कि पूर्व उल्लेखित श्री गुरुदेव की असीम अनुकम्पा का समस्त नजारा श्री रघुराज जी ने अपने पूर्ण होशोहवास में खुले नेत्रों से देखा था। रघुराज भइया गुरु-कृपा से योग की अच्छी स्थिति से गुजरे हैं। उनमें पूर्णरूपेण वैराग्य उत्पन्न हो चुका है। सांसारिकता से दिन-प्रतिदिन दूर होते जा रहे हैं। अपने घर से नित्य प्रातः आश्रम में आ जाते हैं और शाम को घर लौटते हैं। दिन भर आश्रम में आने वाले नये व पुराने गुरु बहिन-भाइयों से गुरु चर्चा करते हैं, और उन्हें श्री प्रभुजी के तथा श्री गुरुदेव जी के सुन्दर चरित्र सुनाया करते हैं। जब से गुरुदेव की आज्ञा हुई, तभी से नित्य शाम की आरती से पूर्व श्री प्रभुजी के भजन गाते चले आ रहे हैं। ★

पथ पर ठोकरें मिलनी प्रारम्भ हो जाती हैं लेकिन इन ठोकरों की रौंद में भी सुख है। जीवन मधुर तन्द्रा में भी सोते-सोते गुजर जाता है लेकिन उस व्यामोह से भरी नींद के पश्चात् उदासी ही रहती है। इसमें ऐसा नहीं है। इसमें चिरजाग है और नित्य नव होने का उत्संग है। बिना किसी शब्दजाल के बिना किसी को कहे और मौन भी बहुत कुछ कहता ही है यदि मौन की भाषा समझी हो। संसार का सर्वश्रेष्ठ वार्तालाप प्रेम की सबसे मधुर बातें मौन से ही होती है।

दादागुरु एक बार अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे और कुछ दूरी पर ही एक प्रसिद्ध सूफी सन्त भी ठहरे थे। शिष्यों के मन में विचार आया कि यदि ऐसे दो श्रेष्ठ विद्वान आपस में वार्तालाप करें तो उनके सत्संग से हमें अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त होगा। प्रयास कर दोनों के शिष्यों ने उनकी भेंट कराई। सूफी सन्त मौन बैठे रहे। दादागुरु के चेहरे को देखकर आह्लादित होते रहे और दादागुरु भी मन्द मुस्कान से उन्हें निहारते रहे, एक घण्टे के पश्चात् दादागुरु ने कहा—आपने कितनी सुन्दर बातें कहीं, प्रत्युत्तर में सूफी सन्त बोले आपका बयान भी तो बेमिसाल था।

सन्तों की भाषा ऐसी ही होती है और इसी से ऐसे व्यक्तित्व कुछ न कहते हुए भी बहुत कुछ कह जाते हैं, जीवन की शैली सिखा जाते हैं। पूज्यपाद गुरुदेव ने बहुत कम कहा है, बहुत ही दुर्लभ अवसरों पर कुछ स्पष्ट रूप से बोले हैं। कुछ कहने और प्रचारित करने की अपेक्षा उन्होंने हर हृदय में प्रवेश कर उसे बताया है कि तुम्हारे अन्दर ही सब कुछ व्याप्त है। एक-एक शिष्य को मौन बात करने की कला सिखाई है एक-एक शिष्य को पुष्प के रूप में बदला है, उसके अन्तस में छाया विष और दुर्गन्ध दूरकर उसे एकाकीभाव से गुनते रहने की कला सिखाई है और वह भी इस जलभुने हुए रेगिस्तान जैसे समाज में। इसी से तो वे कहते हैं कि मैंने बहुत परिश्रम कर गुलाब की कलमें रोपी हैं तो उसमें और अतिशयोक्ति नहीं।

और सचमुच वे शिष्य उनके पसीने की बूंदों से ही सिंचित हुए हैं, अपने गुरु के प्रतिरूप बने हैं। पूज्यपाद गुरुदेव ने अपने शिष्यों में कोमलता और तीक्ष्णता का अद्भुत समन्वय किया है। उन्होंने अपने शिष्यों में केवल शिष्य ही नहीं बल्कि अपने प्रतिरूप भी तैयार किये हैं जो उनके मानसजात पुत्र हैं, जिनकी आँखों में स्वप्न है गुरु की चेतना है और सुगन्ध फैलाने का संकल्प। कितनी विषमताएँ झेली हैं उन्होंने अपने जीवन में, उसका अल्पज्ञान भी यदि हमको हो जाये तो सारा शरीर और मन पीड़ा से दग्ध हो जाता है। लेकिन कुछ व्यक्तियों में एक आशा होती है, जीवन के प्रति एक संकल्प होता है और अपना सब कुछ लुटाकर भी कुछ देने का जो भाव होता है वही व्यक्ति को विष पीने के लिये भी सक्षम बना देता है।

माता-पिता की क्या आकांक्षा होती है बस यही कि मेरा शिशु, मेरी सन्तान सुख प्राप्त करे। गुरु-शिष्य सम्बन्ध भी केवल इसी रूप में समझा जा सकता है। यद्यपि माता-पिता के सम्बन्ध फिर भी स्वार्थपरक और कामना से युक्त हो सकते हैं लेकिन गुरु शिष्य के सम्बन्ध तो ऐसे हो ही नहीं सकते, यह कोई नई बात नहीं है।

समाज गुरु के कार्यों का मूल्यांकन नहीं कर पा रहा है और "गुलाबजल" शब्द तो एक अपूर्ण शब्द है, क्योंकि वास्तव में उनके

कार्यों का मूल्यांकन तो सामान्य मनुष्य के द्वारा सम्भव ही नहीं। उनकी चेतना यदि एक बार प्राप्त हो जाये तब भी बहुत कुछ घटित हो जायेगा व्यक्ति के मन व शरीर में, क्योंकि यह कोई सामान्य चेतना नहीं है, जीवन को झकझोर कर रख देने की क्रिया है, आग्रह करके व्यक्ति के हृदय में उतर जाने की प्रक्रिया है। इसका अर्थ तो वही समझ सकता है जिसने कभी जीवन में कुछ ऐसा प्राप्त करने का सुख जाना है।

यह एक ऐसे अमृत का स्वाद है जिसकी सार्थकता बांटने में ही होती है और इसी से इसकी तुलना केवल पुष्प से की जा सकती है जो अपनी सुगन्ध बिखेरता ही रहता है, अपने बीज छोड़ देता है हवा में किन्तु कि वे हवा के झोंकों के साथ उड़े और दूर-दूर तक जाकर अलग-अलग खेतों में गिरकर पौधा बनें, सुगन्ध बिखेर दें और ऐसी ही क्रिया सम्पन्न हो रही है पूज्य गुरुदेव द्वारा निर्मित शिष्य पर जो उन्हीं के अंश से उत्पन्न हुए उन्हीं के बीज हैं।

पूज्य गुरुदेव ने इस संसार के कीचड़ में ऐसे ही कमल पुष्प विकसित किये हैं जिनकी सुगन्ध से आज भी वातावरण स्निग्ध है। आज भी ज्ञान व साधना की लुप्त होती परम्परायें जीवित हैं और स्पष्ट हैं। गुरु की सुगन्ध ही जिनमें प्रवाहित हो रही है और शिष्य का आनन्द यह है कि गुरु चलते हैं तो शिष्य भी चलता है। गुरु बोलते हैं तो शिष्य भी बोलता है, गुरु हँसते हैं तो शिष्य भी हँसता है। खाना-पीना, उठना-बैठना सब कुछ गुरुमय हो जाता है, अपने को समाप्त करने का आनन्द आ जाता है, मन में तृप्ति आ जाती है।

लेकिन गुरु रूपी बीज को प्रवेश देने के लिये एक बीज डालने भर की जगह देनी पड़ती है जिससे वही बीज अपने अन्दर विष-मताओं और मलिनताओं के कीचड़ में कमल बनकर सुगन्ध से भर दे सारे वातावरण को। बीज तो खुद तैयार है हमारे अन्दर व्याप्त कीचड़ में पनपने के लिये, कमल बनने के लिये। कम से कम अंकुरित होने का एक अवसर तो दें।

---

### सन्त वचन

जो सब कुछ धारण कर रहा है, जिसमें जन्म, मृत्यु, सृजन, प्रलय सभी कुछ चल रहे हैं वही परमात्मा ईश्वर है।

जिसके होने से ही देखना, सुनना आदि इन्द्रियों के तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार के सभी व्यापार चल रहे हैं वही नित्य परमात्मा परमेश्वर है वह अभी है, यहीं है, सर्वत्र है, सर्वदा है, सभी का सर्वस्व है सब उसी परमात्मा में ही है। अपने को उसी में अनुभव करो।

(दिव्य मन्त्रणा से)

# -: संगति का प्रभाव :-

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास (बीना)

संसार के प्रत्येक मनुष्य के लिए संगति अत्यन्त महत्व रखती है। जो प्राणी जिस प्रकार की संगति करता है, उसका जीवन उसी प्रकार के साँचे में ढल जाता है, क्योंकि मनुष्य जिस प्रकार की संगति करता है, उसी प्रकार के विचार उसके अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार के विचार होंगे, उसी प्रकार के कर्म होंगे और जैसे कर्म होंगे, वैसा ही होगा उसका जीवन। अन्य शब्दों में मनुष्य के जीवन में संगति का प्रभाव अत्यन्त महत्व रखता है। उदाहरणतया अग्नि की एक चिनगारी जिसे हम तुच्छ समझते हैं, उसे यदि वायु की संगति अथवा सहायता मिल जाये तो वह पलों में ही प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार वर्षा की निर्मल बूंद जब आकाश से उतर कर पैरों तले रौंदी जाने वाली धूलि से मिलती है तो कीचड़ बन जाती है।

स्वाति नक्षत्र की बूंद यदि समुद्र तल पर तैरती हुई सीप के मुख में गिर जाये तो मोती बन जाती है, यदि केले के फूल पर पड़ जाये तो कपूर बन जाती है और यदि वही बूंद सर्प के मुख में चली जाये तो विष बन जाती है। कथा—भगवान विष्णु के प्रिय भक्तों में नारद जी का स्थान बहुत उच्च है। चौबीसों घण्टे हाथ में वीणा लिये नारदजी अपने इष्टदेव की महिमा गाते हुए तीनों लोकों में विचरण करते रहते हैं।

एक दिन नारद जी के मन में एक जिज्ञासा उठी। उसके समाधान हेतु वे भगवान विष्णु के पास गये, भगवान को जाकर प्रणाम किया तथा अपना प्रश्न भी नम्रतापूर्वक श्री चरणों में निवेदन किया कि प्रभो! सन्तों की संगति का क्या फल होता है? भगवान विष्णु मन ही मन मुस्कराये और कहा कि जो किसी वस्तु की इच्छा करता है, उसकी प्राप्ति के लिये उसे परिश्रम भी करना पड़ता है, अतएव आप पृथ्वी लोक में जाओ वहाँ कंटकाकीर्ण नामक वन में एक बबूल का पेड़ है जिस पर एक गिरगिट रहता है, वह गिरगिट ही आपके प्रश्न का उत्तर देगा।

नारद जी पृथ्वी लोक पर आये और लगे ढूंढने उस वन को। जैसे तैसे उस वन में पहुंचे तो उन्हें उस वन में अनेकों बबूल के वृक्ष दिखाई दिये। बड़ी ही कठिनाई से वे उस बबूल के वृक्ष के पास पहुँचे जिस पर गिरगिट बैठा हुआ था। नारद जी ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—क्यों भाई गिरगिट! क्या तुम बता सकते हो कि सन्तों की संगति का क्या फल होता है? जब गिरगिट ने कोई उत्तर न दिया तो नारद जी ने पुनः अपना प्रश्न दोहराया, परन्तु वह गिरगिट चुप ही रहा। नारद जी ने पुनः जोर देकर अपना प्रश्न दोहराया, परन्तु गिरगिट पर फिर भी कोई प्रभाव न पड़ा। नारद जी खीजकर वापिस जाने को उद्यत हुए, परन्तु फिर कुछ विचार कर उन्होंने चौथी बार अपने प्रश्न की आवृत्ति की। प्रश्न अभी पूरा

भी न हो पाया था कि गिरगिट बबूल की शाखा से गिरा और मृत्यु को प्राप्त हो गया। यह देखकर नारद जी अत्यन्त दुःखी हृदय से विष्णु भगवान के पास गये एवं सब वृत्तान्त सुनाते हुए बोले—मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर तो मिला नहीं, उल्टा एक जीव की हत्या का पाप मेरे सिर पर और चढ़ गया।

भगवान ने उन्हें सान्त्वना दी और कहा—नारद जी ! घबराने की कोई बात नहीं है। जो सत्य की खोज करता है, उसे कष्ट तो उठाना ही पड़ता है।

नारद जी बोले—जो हुआ सो हुआ। अब आप मेरे प्रश्न का उत्तर तो दीजिये।

इस बार भगवान ने नारदजी को आम्र-वन में जाने को कहा और बताया कि वहाँ एक आम की डाली पर हीरामन नामक तोता रहता है, वही आपके प्रश्न का उत्तर देगा।

नारद जी खोजते खोजते उस आम्रवन में पहुँचे और फिर उस हीरामन तोते की खोज में लग गये। कुछ समय पश्चात् वे उस आम के वृक्ष को ढूंढने में सफल हुए जिस पर हीरामन तोता रहता था।

पेड़ के नीचे खड़े होकर नारद जी ने तोते के समक्ष अपना प्रश्न प्रस्तुत किया कि क्यों भाई हीरामन ! क्या तुम बता सकते हो कि सन्तों की संगति का क्या फल होता है ? किन्तु तोते ने कोई उत्तर न दिया और अपनी टें टें में लगा रहा। नारद जी ने प्रश्न की पुनरावृत्ति की तो तोता चुप हो गया और गरदन टेढ़ी करके नारद जी की ओर देखने लगा। नारद जी के मन में आशा की किरण जागी और उन्होंने पुनः अपना प्रश्न दोह-राया। किन्तु हुआ वही जो होना था। नारद जी के देखते-देखते ही तोता नीचे गिरा और मर गया।

लौटकर नारद जी लगे भगवान से कहने कि आपने मेरे प्रश्न का उत्तर तो दिया नहीं, उल्टा मुझे दो हत्याओं के पाप का भागी बना दिया। जिनके प्रायश्चित के लिये न जाने मुझे कितने वर्ष तपस्या करनी पड़ेगी।

नारद जी की रोषपूर्ण वाणी सुनकर भगवान विष्णु मन ही मन मुस्कराये और बोले—देवर्षि ! आप पुनः यत्न कीजिये। आपके प्रश्न का समाधान अवश्य होगा। राजा मेश्वर की घुड़साल में श्याम वर्ण नामक एक घोड़ा पैदा हुआ है। उसे आपके प्रश्न का उत्तर ज्ञात है। जाइये ! देर न कीजिये।

विष्णु भगवान के बहुत कहने पर नारद जी राजा मेश्वर का पता लगाने पृथ्वी पर आये और पता लगाते-लगाते राजा की घुड़-साल में आ पहुँचे और घोड़े के पास पहुँच-कर उसके कान में अपना वही प्रश्न कह सुनाया। परन्तु घोड़े ने केवल अपना कान हिला दिया। तब नारद जी दूसरे कान में जा फुसफुसाये। नारद जी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा कि घोड़ा गिर कर मर गया है। नारद जी दुःखी हृदय से विष्णु लोक पहुँचे और सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।

भगवान ने उन्हें बड़े प्रेम से समझाया और कहा—आप एक बार और कष्ट करो। इस बार आपके प्रश्न का उत्तर निस्सन्देह मिल जायेगा। चन्द्रकान्त नामक राजा के घर अभी-अभी एक शिशु ने जन्म लिया है। वह आपके प्रश्न का समुचित उत्तर देगा। आप वहाँ जाकर अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त करें।

नारद जी पहिली तीन घटनायें देखकर डरे हुये तो थे ही, सोचने लगे बाबा क्या करो! कहीं वह राजकुमार भी गिरगिट, हीरामन और श्यामकर्ण की भांति मर गया, तो वह राजा मेरा दम नाक में कर देगा, अतः मैं कदापि वहाँ नहीं जाऊँगा। मुझे अपने प्रश्न का उत्तर नहीं चाहिये।

विष्णु भगवान बोले—आप घबराओ मत। ऐसा कुछ नहीं होगा। वरन् इस बार आपके प्रश्न का उत्तर अवश्य ही मिलेगा।

नारद जी डरे-डरे से राजा चन्द्रकान्त के महल में पहुँचे। राजा ने नारद जी का अत्यधिक सम्मान किया, चरणोदक लिया और यथाशक्ति सेवा की। नारद जी ने राजकुमार को देखने की इच्छा प्रकट की। राजा उन्हें राजकुमार के कमरे में ले गये। नारद जी ने शिशु के मस्तक पर हाथ रखा और उसकी मस्तक रेखा देखने के बहाने बहुत ही धीमी आवाज में बोले—हे राजकुमार! सन्तों की संगति का क्या फल होता है? नारद जी के कहने की देर थी कि बच्चा हाथ-पाँव मार कर रोने लग पड़ा। नारद जी को वहम तो पहले ही था, बालक का रुदन सुनकर भाग खड़े हुए कि यहाँ भी वही बात न हो जाये।

राज कर्मचारियों ने उनका पीछा किया और पुकार कर कहा—ठहरिये मुनिराज! नारदजी अपनी दौड़ और तेज करते हुए बोले—मैंने कुछ नहीं किया, मैं निर्दोष हूँ। किन्तु कुछ सैनिकों ने तेज दौड़कर नारद जी का मार्ग घेर लिया और कहा—महाराज! आपको राजकुमार बुला रहा है। आपकी दया से वह अबोध शिशु भी बोलने लगा है।

नारद जी ने उत्तर दिया—मैं अब किसी दशा में भी वहाँ नहीं जाऊँगा।

सेवकों ने नारद जी की बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और उन्हें राजकुमार के समीप ले आये। नारद जी को देखते ही राजकुमार ने कहा—महात्मन्! क्या था आपका प्रश्न? कृपया एक बार फिर दोहराइये। किन्तु नारद जी चुप रहे।

राजकुमार ने पुनः कहा—प्रभो! आप अपना प्रश्न बतावें मैं आपको उसका समुचित उत्तर दूँगा।

नारद जी बोले—मैं तो यह जानना चाह रहा था कि सन्तों की संगति का क्या फल होता है?

राजकुमार ने उत्तर दिया—नारद जी! आप ब्रह्मवेत्ता हैं, अब आपसे क्या छिपाऊँ! पहले मैं अपने कर्मानुसार एक गिरगिट था और कंटकाकीर्ण वन में रहता था। वह मेरा सौभाग्य था कि आप मुझे वहाँ दर्शन देने आये। आपके चार पल के संग से मुझे उस योनि से मुक्ति मिली और मैं आम्रवन में तोता बना। वहाँ भी आपने दया करके मुझे दर्शन दिये। आपके कुछ पलों के संग से मुझे तोते की योनि से छुटकारा मिला और मैं राजा शेखर की घुड़साल में घोड़ा बना। वहाँ भी आपने अपने शरीर पर कष्ट सहकर मुझे दर्शन दिये। उन दो पलों के संग के प्रताप से मैं घोड़े की योनि से मुक्ति प्राप्त करके राजकुमार बन गया हूँ अर्थात् पशु योनि से छुटकारा पाकर मनुष्य योनि में आ गया हूँ, अतएव मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

यह सुनकर नारद जी की आँखों में आँसू छलक आये और वे आनन्दपूर्वक प्रभु की महिमा का गायन करते हुये विष्णु लोक को लौट गये।

महापुरुषों ने सत्संग की अनुपम महिमा गाते हुये कहा है कि चाहे सहस्रों वर्ष तप करलो, कितना ही दान-पुण्य, तीर्थ-स्नान आदि कर लो, जब तक सन्त पुरुषों की संगति नहीं करोगे तब तक निस्तार नहीं होगा। ★

# देशबन्धः चित्तस्य धारणा

श्री बालकोबा भावे

दिनभर मन में असंख्य प्रत्यय उठते रहते हैं। वे प्रायः सांसारिक विषयों के ही होते हैं। मन को इन्हीं प्रत्ययों की आदत लगी हुई है। इसीमें जीवात्मा को आनन्द आता है। लेकिन अन्त तक वे सांसारिक या जागतिक विषय के प्रत्यय शान्ति नहीं देते। साधक शान्ति के लिए साधना करता है। यम-नियमों का अनुष्ठान करके, आसन लगाकर, प्राण और इन्द्रियों के द्वार बन्द कर देने के बाद मन का द्वार बन्द करना होता है इसीका नाम 'धारणा' है। इसके लिये जगत् के किसी भी विषय में चित्त को लीन करने से काम नहीं चलेगा। साधक को तो समाधि के द्वारा शान्ति के सागर में मग्न होना है। इसलिये दुनियाँ के सब प्रत्ययों को हटाकर केवल आत्मा या ईश्वर का ही चिन्तन घण्टों तक करते रहने का अभ्यास करना होगा। राम, कृष्ण, बुद्ध या ऐसी ही किसी विभूति की मूर्ति के गुणों का चिन्तन करना भी 'धारणा' ही है। धीरे-धीरे गुणों का चिन्तन कम करके, केवल साकार मूर्ति में लीन हो जाना चाहिए। साथ में नाम जप तो होना ही चाहिए। लेकिन ईश्वर या आत्मा का तात्त्विक चिन्तन करने में चित्त को घण्टों लीन रखना ही 'धारणा' का ही अभ्यास है। इनमें से जो अनुकूल हो, उसीका अभ्यास करना अच्छा है। इस प्रकार किसी मूर्ति, आत्मा या ईश्वर के चिन्तन में तल्लीन हो जाने के बाद 'ध्यान' का अभ्यास करना होता है। ★

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008.    JUNE 1996

प्रेषक कार्यालय :—

# सिद्ध योग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ..............................................................

..............................................................

..............................................................

..............................................................

## त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत ॥ —गीता १६/२१

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् उसको अधोगति में ले जाने वाले हैं। अतएव इन तीनों का त्याग करना चाहिये।'

इन्हीं दुष्ट दुर्गुणों को अपनाने से मनुष्य का घोर अधःपतन होता है। अतएव दृढ़तापूर्वक इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्याग से प्रमाद का त्याग हो जाता है और प्रमाद के त्याग से इनके पूर्ण त्याग में सहायता मिलती है।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बबई कर्ला, राजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन : 330426